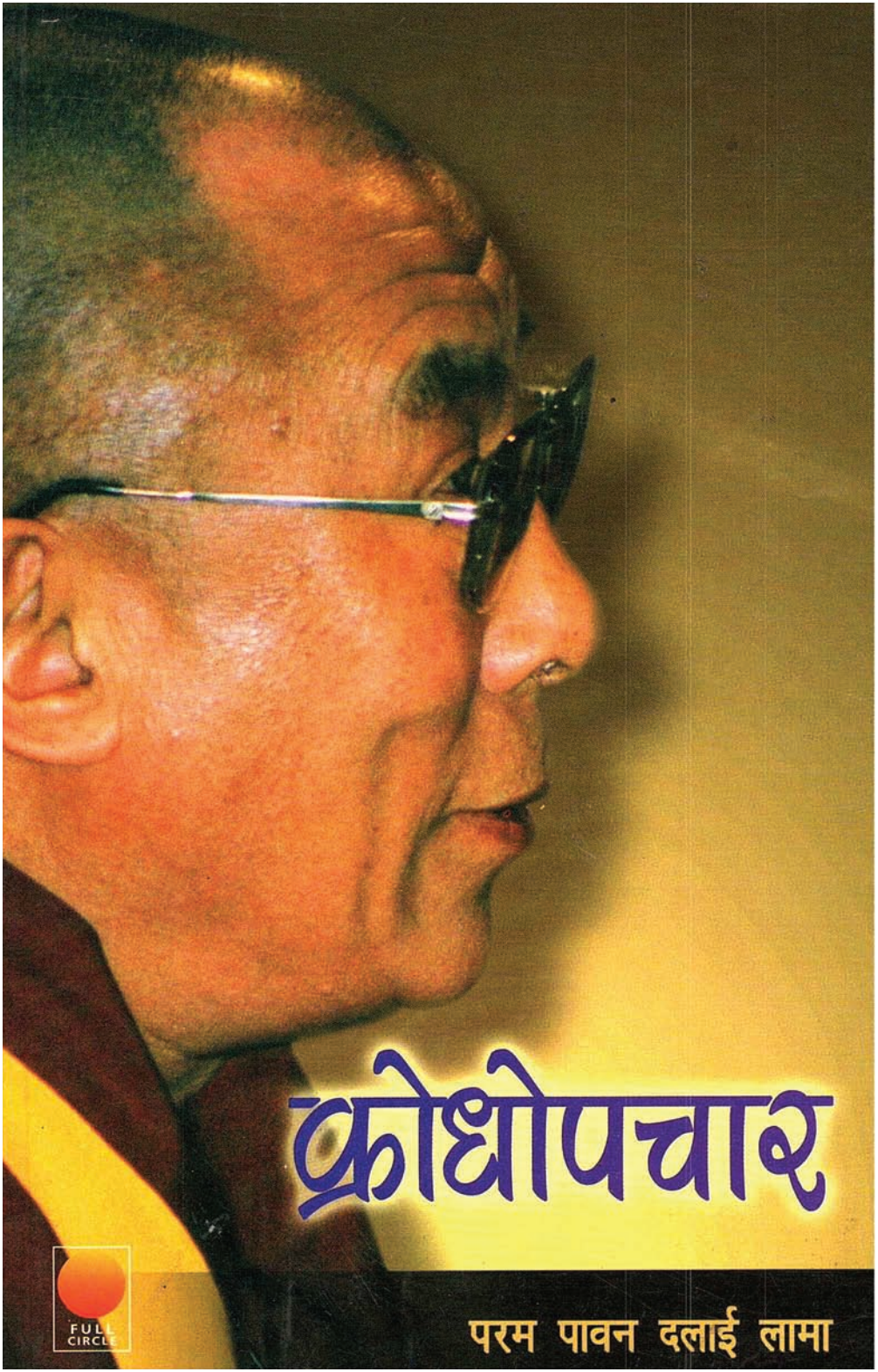
क्रोधोपचार
FULL CIRCLE
परम पावन दलाई लामा

क्रोधोपचार

परम पावन धर्माचार्य
दलाई लामा
की एक अनूठी पुस्तक

●

दैनिक जीवन में
ध्यान साधना का विकास

125/-

●

करुणाशील हृदय

95/-

क्रोधोपचार

परम पावन दलाई लामा

अनुवाद: **राजी रमणन**

FULL CIRCLE

फ़ुल सर्कल

फाउंडेशन फॉर यूनिवर्सल रेस्पॉन्सेबिलिटी

इस पुस्तक के सर्वाधिकार सुरक्षित हैं। इसका कोई भी अंश या भाग किसी भी प्रकार से या किसी भी रूप में पुनर्मुद्रण या प्रकाशन **फ़ुल सर्कल** की बिना पूर्व अनुमति के अवैधानिक माना जाएगा। अत: इसके लिए पूरी सावधानी बरती जाए।

फ़ाउंडेशन फ़ॉर यूनिवर्सलरेस्पॉन्सेबिलिटी के सहयोग से प्रकाशित

क्रोधोपचार

© सर्वाधिकार सुरक्षित

प्रथम संस्करण: 2000

अनुवाद: राजी रमणन

प्रकाशक: **फुल सर्कल**
दिलशाद गार्डन, जी.टी. रोड, दिल्ली-110095

लेज़र: विनायक कम्पयूटर, दिल्ली-110032

मुद्रक: नाईस प्रिंटिंग प्रेस, दिल्ली-110 051

KRODHOUPCHAR
by DALAI LAMA

ISBN 81-7621-072-2

सर्वमेतत्सुचरितं दानं सुगतपूजनम्।
कृतं कल्पसहस्त्रैर्यतप्रतिघः प्रतिहन्ति तत्॥
मनः शमं न गृहणानि न प्रीतिसुखमश्नुते।
न निद्रां न धृतं याति द्वेष शल्ये हृदि स्थिते॥

(*बोधिचर्यावतार, 6 : 1,3*)

अनुक्रम

1 पहला दिन

पहला सत्र	9
दूसरा सत्र	29

2 दूसरा दिन

दूसरा दिन	53

3 तीसरा दिन

पहला सत्र	94
दूसरा सत्र	114

4 चौथा दिन

पहला सत्र	134
दूसरा सत्र	152

शब्दावली 177

उल्लिखित ग्रंथ 184

1

पहला दिन

पहला सत्र

साधारणतया विश्व के सभी प्रमुख धर्म, प्रेम, करुणा तथा धैर्य के महत्त्व पर बल देते हैं। यह बात विशेष रूप से सभी बौद्ध परम्पराओं जैसे थेरवाद, महायान, तथा तंत्रयान (बौद्ध धर्म की गुह्य परम्परा) के संदर्भ में लागू होती है। उन सभी के अनुसार करुणा तथा स्नेह सभी आध्यात्मिक मार्गों का आधार है।

अपनी करुणा के विकास की बढ़ोत्तरी और अंतर्निहित प्रेम की क्षमता के विकास के लिए विपरीत शक्तियों का दमन महत्त्वपूर्ण है। इस संदर्भ में क्षांति या धैर्य का अभ्यास बहुत ही महत्त्वपूर्ण हो जाता है क्योंकि क्षांति के अभ्यास द्वारा ही करुणा के मार्ग में आ रहे अवरोधों को दूर किया जा सकता है।

जब हम क्षांति या धैर्य की बात करते हैं तब हमें यह जानना चाहिए कि धैर्य के कई स्तर हैं जो कि एक साधारण सहन शक्ति की क्षमता जैसे कि कुछ गर्मी या ठंड सहन करने से लेकर क्षांति के परम स्तर जो कि बौद्धमार्गी के अभ्यासी बोधिसत्व का मार्ग है, तक है। सुदृढ़ और स्थिर चित्तता की कुछ योग्यता तथा विपरीत स्थितियों से अथवा परिस्थितियों से अभिभूत न होकर, हमें सहनशक्ति या क्षांति को दुर्बलता के रूप में न देखकर बल्कि सुदृढ़ व स्थिर चित्त से उत्पन्न एक गहरी शक्ति के रूप में देखना चाहिए। साधारणतया इसी आधार पर धैर्य या

क्षांति को परिभाषित किया जा सकता है। हम देखते हैं कि एक सीमा तक शारीरिक कठिनाइयों जैसे गर्मी या ठंड सहन करने की शक्ति में हमारी मनोवृत्ति से बहुत अंतर पड़ता है। अगर हम यह समझ लें कि तात्कालिक कठिनाइयों को सहन करने से दीर्घकालिक परिणाम होंगे तब संभवत: हम दैनिक जीवन की कठिनाइयों का सामना कर पाएँगे। इसी तरह उन लोगों के संदर्भ में जो बोधिसत्व मार्ग पर चलकर धैर्य और क्षांति के परम स्तर के अभ्यासी हैं, बुद्धि भी एक पूरक के रूप में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाती है।

धार्मिक दृष्टिकोण के संदर्भ में सहनशक्ति तथा क्षांति के अभ्यास के अतिरिक्त हमारे दैनिक जीवन में भी सहनशक्ति तथा क्षांति का अभ्यास हमारे लिए अत्यंत लाभकारी है जैसे चित्त की स्थिरता, शांत स्वरूप, सुधबुधता, समयोचित सोचने की शक्ति। इसलिए यदि व्यक्ति में सहनशक्ति तथा क्षांति की यह क्षमता होगी तो यदि वह ऐसी परिस्थिति में भी रहे जहाँ उत्तेजना अथवा तनावपूर्ण स्थिति हो तब भी उसके चित्त का शांत स्वरूप या सुधबुधता भंग नहीं होगी।

भाषण की इस शृंखला में जिस ग्रंथ से मैं आपको शिक्षा दूँगा वह एक बौद्ध ग्रंथ है, और विशेषकर महायान परम्परा का ग्रंथ है। इस ग्रंथ में उल्लखित अधिकतर अभ्यास उस अभ्यासी के दृष्टिकोण से समझाए गए हैं जो महायान पंथ की परम्परा के अनुसार बोधिचित्त के परिष्कार और बोधिसत्व सिद्धांतों के आधार पर जीवन जी रहा है। यद्यपि ऐसे कई उपायों या तरीकों जिनका इनमें उल्लेख हुआ है पर उनका पालन वे लोग भी कर सकते हैं जो बोधिसत्व के अभ्यासी नहीं हैं या जो बौद्ध धर्म को व्यक्तिगत धर्म के रूप में स्वीकार नहीं करते।

इस ग्रंथ का नाम है '*बोधिसत्वचर्यावतार*' जो संस्कृत में है और जिसका अनुवाद Guide to Bodhisattva's way of life के रूप में हुआ है। जब हम बोधिसत्वों के कार्यों की बात करते हैं तो उसके तीन स्तर हैं। सबसे प्रथम है बोधिसत्व मार्ग में प्रवेश, जिसका आधारभूत सिद्धांत है बोधिचित्त की उत्पत्ति जो कि अन्य प्राणियों के लाभ के लिए पूर्ण बुद्धता की स्थिति को प्राप्त करना है। अभ्यास का यह पहला स्तर है। इसके पश्चात वास्तविक अभ्यास का स्तर है जिसमें छ: पारमिताओं

का अभ्यास आता है। बोधिचित्तार्जन हेतु जो छः मुख्य पारमिताएँ हैं उनमें एक सहनशक्ति या क्षांति है। बोधिसत्व का तीसरा स्तर बुद्धत्व की स्थिति के कार्यकलाप हैं जो इस अभ्यास का परिणाम हैं। बोधिसत्व आचरण मार्ग के पहले अध्याय में शांतिदेव परकल्याण हेतु बोधिचित्तार्जन के विषय में बताते हैं। उनका कथन है :

सुगतानससुतानसधर्मकायानप्राणिपत्यादरताऽखिलांश्चवंद्यान्
सुगतात्मज सुगतात्मजसंवरावतार कथयिष्यामि यथागमं समासात्

इस श्लोक में वह कहते हैं चूँकि परकल्याण की यह भावना सभी जीवों हेतु असीमित रूप से विकसित होती है इसलिए ऐसा व्यक्ति वास्तव में श्रद्धा के योग्य व वन्दनीय है, जो इस प्रकार के परकल्याण की भावना उत्पादन करता है। चूँकि असीमित परकल्याण की यह भावना न केवल वैयक्तिक सुख व आनन्द का स्रोत है परन्तु अनगिनत प्राणियों के लिए भी है इसलिए ऐसे व्यक्तियों के साथ किसी भी प्रकार का पारस्परिक संबंध, चाहे वह नकारात्मक ही क्यों न हो किसी व्यक्ति के निजी जीवन में एक शक्तिशाली छाप छोड़ जाती है। चाहे कोई नकारात्मक कार्य करे अन्यथा उसके संबंध नकारात्मक हों यद्यपि उसके तात्कालिक परिणाम नकारात्मक हो सकते हैं परन्तु दीर्घकाल में ऐसे व्यक्तियों के साथ हुए पारस्परिक संबंधों का परिणाम हितकारी होता है और भविष्य में इसके लाभकारी परिणाम हो सकते हैं। अपरिमित परकल्याण में इतनी अधिक शक्ति है।

इस असीमित परकल्याण की सच्ची आधारशिला करुणा है और इस कारण चन्द्रकीर्ति ने अपने ग्रंथ '*मध्यमकवतार*' में करुणा के प्रति अपनी श्रद्धा व्यक्त की है और उसके स्थायी महत्त्व तथा मूल्य की ओर संकेत किया है जबकि अन्य ग्रंथकार अपने ग्रंथ के आरंभ में बुद्ध, बोधिसत्व, या फिर अन्य किसी आराध्य देव के प्रति श्रद्धा भाव प्रकट करते हैं और फिर यह संकेत देते हैं कि इसका महत्त्व और मूल्य निरंतर रहता है। प्रारंभिक स्तर पर इसके मूल्य का अवमूल्यांकन नहीं किया जा सकता। इस मार्ग पर चल रहे व्यक्ति इसके मूल्य व महत्त्व का

अवमूल्यांकन नहीं कर सकते। बुद्धत्व के परिणामिक स्तर पर भी करुणा अपना मूल्य व महत्त्व बनाए रखती है। हम देखते हैं कि विश्व के सभी प्रमुख धर्म यद्यपि अलग-अलग ढंग से करुणा की शिक्षा देते हैं और यह बताते हैं कि इस प्रवृत्ति को बढ़ाना कितना आवश्यक है परंतु सभी इस बात को लेकर एक मत हैं कि करुणा ही मूल है तथा अत्यंत महत्त्वपूर्ण है। मोटे तौर पर करुणा को एक ऐसी मानसिक स्थिति के रूप में परिभाषित किया जा सकता है जो अहिंसात्मक, अहानिकारक और अनआक्रमणकारी हो। इसी कारण करुणा को मोह या अनुरक्ति का रूप देने का भय है।

इस तरह हम देखते हैं कि स्नेह या करुणा दो प्रकार के हैं। एक ओर स्नेह या करुणा का एक रूप वह है जो आसक्ति पर आश्रित है या जिसमें आसक्ति की छटा दिखाई देती है। इस प्रकार का स्नेह या करुणा भावना पक्षपाती तथा पूर्वाग्रही होती है और इस बात पर आधारित होती है कि हमारा स्नेह या आसक्ति उसके प्रति है जो हमारा प्रिय तथा अंतरंगी है। दूसरी ओर वास्तविक करुणा आसक्ति से मुक्त होती है। वहाँ करुणा का प्रेरक तत्त्व यह नहीं होता कि अमुक व्यक्ति मेरा मित्र, प्रिय या संबंधी है बल्कि विशुद्ध करुणा इस तर्क पर आधारित है कि मेरी तरह अन्य लोग भी अपने अन्दर दुःखों से मुक्ति पाकर प्रसन्न रहने की लालसा रखते हैं और मेरी ही तरह उन्हें भी इस आधारभूत आकांक्षा को साकार करने का एक स्वाभाविक अधिकार है। इस आधारभूत सामान्यता तथा समानता की पहचान होने पर एक निकट सहज संबंध का विकास होता है जिससे स्नेह तथा करुणा का विकास किया जा सकता है। यही विशुद्ध करुणा है।

यह भी स्पष्ट है कि व्यक्ति का बौद्धिक स्तर या प्रज्ञा एक ऐसा पूरक तत्त्व है जिससे किसी की करुणा की गहनता का निर्धारण होता है। बौद्ध धर्म में करुणा के तीन प्रमुख रूपों के बारे में चर्चा है। एक ऐसी करुणा है जो ज्ञान के किसी तत्त्वों से पूरित नहीं होती। करुणा का दूसरा स्तर वह है जो सत्वों के परिवर्तनशील अनित्य रूप से पूरित है। करुणा का तीसरा स्तर वस्तुनिष्ठहीनता करुणा है जिसका पूरक तत्त्व प्रज्ञा या सत्य का परम रूप है। इस स्तर पर हम सत्वों की प्रकृति के

शून्य स्वरूप को देखते हैं और ऐसा ज्ञान हमें सत्वों के लिए हमारी करुणा भावना के प्रति हमें पुनः निष्ठावान बनाता है। यद्यपि इस प्रकार की विशुद्ध करुणा और असीमित परमार्थ भावना ऐसी है जिसका जागरूकता से परिष्कार कर विकास करना आवश्यक है परंतु हम सबके अंदर ऐसे गुणों के विकास और बढ़ोत्तरी की क्षमता है।

मेरा आधारभूत विश्वास यह है कि हमारे अन्दर न केवल करुणा की क्षमता या आधार है परंतु साथ ही मानव की मूल प्रवृत्ति कोमल है। मेरा यह विश्वास बुद्ध प्रकृति के सिद्धांत के अतिरिक्त अन्य सिद्धांतों पर भी आश्रित है। उदाहरणार्थ यदि हम बाल्यकाल से लेकर मृत्यु तक अपने अस्तित्व के स्वरूप को देखें तो हम देखते हैं कि किस तरह हमारा पोषण आपसी स्नेह के कारण हुआ है और दूसरों के स्नेह को देखकर हमारे अन्दर कैसी अनुभूति होती है। इसके अतिरिक्त जब हमारे अपने अन्दर स्नेह की भावनाएँ हैं तो वह किस स्वाभाविकता से हमें अंदर से प्रभावित करती हैं। इतना ही नहीं जब हम अपने विचारों और व्यवहार में स्नेह भावना तथा पूर्णता रखते हैं तो वह हमारे शारीरिक कल्याण के लिए अधिक अनुकूल है। इस पर भी ध्यान दिया जाए कि प्रतिकूल आचरण किस प्रकार स्वास्थ्य के लिए हानिकारक है। मेरे विचार से हम यह अनुमान लगा सकते हैं कि हमारी मूल प्रकृति में कोमलता का भाव है। अब जब यह सत्य है तब यह बात और अधिक अर्थवान हो जाती है कि इस प्रकार का जीवन बिताया जाए जो हमारे अस्तित्व के कोमल रूप के अनुकूल हो।

पर हम न केवल अपने चित्त में हैं पर जब हम दूसरों के साथ व्यवहार करते हैं तो पारिवारिक स्तर सामाजिक स्तर, राष्ट्रीय स्तर, अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर भी बहुत अधिक संघर्ष और तनाव देखते हैं। इसका क्या कारण है? मेरे विचार से इस संघर्ष का एक कारण हमारी कल्पनाशक्ति है, दूसरे शब्दों में बुद्धि।

यही बुद्धि इस संघर्ष को दूर करने के लिए तरह-तरह के उपाय ढूँढ़ती है। इस तरह बुद्धि द्वारा निर्मित इस संघर्ष को बुद्धि द्वारा ही दूर करने में जो महत्त्वपूर्ण तत्त्व है वह है मानवीय करुणा। यदि हम वास्तविकता की ओर देखें तो यह अत्यंत स्पष्ट है कि इस संघर्ष को दूर

करने का सबसे अच्छा उपाय है सामंजस्य की भावना। आंतरिक रूप से भी यह भावना करुणा से कई रूपों में जुड़ी है।

करुणा का एक रूप दूसरों के अधिकारों तथा दृष्टिकोण के प्रति सम्मान की भावना है। मेरे विचार से व्यक्ति के जाने अनजाने में ही मानवीय सामंजस्य की भावना के नियम जो कि करुणा पर आश्रित हैं, हमारी अंतरात्मा में क्रियाशील हैं। अतः चूँकि हमारी आधारभूत मानवीय प्रकृति कोमल है चाहे हम कितनी ही हिंसा या बुरी बातों का सामना करें, अंततः उचित समाधान मानवीय प्रेम की ओर लौटने में ही है क्योंकि यही आधारभूत मानवीय भावना है। अतः मानवीय स्नेह या करुणा मात्र एक धार्मिक बात नहीं, अपितु हमारे दैनिक जीवन में भी अनिवार्य है।

अब इस पृष्ठभूमि के आधार पर धैर्य के अभ्यास की ओर देखना उचित होगा। कितना ही कठिन क्यों न हो परन्तु यही अभ्यास उचित है।

शांतिदेव द्वारा विरचित क्षांति पारमिता के अध्याय में आता है :

सर्वमेतत्सुचरितं दानं सुगतपूजनम्।
कृतं कल्पसहस्त्रैर्यत्प्रतिद्यः प्रतिहन्ति तत्॥1॥

सहस्त्र कल्पों के दान, शील, बुद्ध पूजा आदि सभी सुचरित बोधिसत्व के प्रति मात्र एक क्रोध भावना से नष्ट हो सकता है। इस श्लोक का संकेतार्थ यह है कि किसी एक अभ्यासी द्वारा सफलतापूर्वक क्षांति और सहनशक्ति के परिष्कार के लिए एक प्रबल उत्साह, एक उत्कट लालसा की आवश्यकता है क्योंकि इस प्रक्रिया में जितना प्रबल उत्साह होगा उतनी ही अधिक कठिनाइयों को झेलने की शक्ति होगी। यही नहीं व्यक्ति इन कठिनाइयों को इस पथ पर आने वाले अनिवार्य तत्त्व के रूप में स्वीकार कर लेगा।

अब पहला स्तर तो एक प्रबल उत्साह को जन्म देता है और इसके लिए क्रोध तथा विद्वेष की विध्वंसकारी प्रकृति पर चिंतन की आवश्यकता के साथ-ही-साथ क्षांति और धैर्य के सकारात्मक प्रभाव पर भी चिंतन आवश्यक है।

इस ग्रंथ में हम पढ़ते हैं कि एक क्षण के क्रोध की उत्पत्ति भी सहस्रों कल्पों के संचित गुणों का नाश कर सकती है। चंद्रकीर्ति का दूसरा ग्रंथ *माध्यमकवतार* बताता है कि एक क्षण का क्रोध सौ कल्पों के संचित पुण्य को नष्ट कर देता है। इन दोनों ग्रंथों के अंतर का आधार किसी वस्तु के प्रति विद्वेष या क्रोध के दृष्टिकोण को लेकर है। यदि विद्वेष या क्रोध किसी उच्च स्तरीय बोधिसत्व पर है और जिस के मन में विद्वेष है या जो क्रोधित हो रहा है वह बोधिसत्व नहीं है तब संचित पुण्यों के नष्ट होने की मात्रा अधिक होगी। दूसरी ओर यदि किसी बोधिसत्व के मन में दूसरे बोधिसत्व के प्रति क्रोध की भावना उत्पन्न होगी तो शायद पुण्यों का क्षय कम मात्रा में होगा। इसी आधार पर ये अंतर समझाए जाते हैं।

हालाँकि जब हम यह कहते हैं कि एक क्षण के क्रोध से कल्पों के पुण्य नष्ट हो जाते हैं तब हमें यह देखने की आवश्यकता है कि किस प्रकार के पुण्यों का नाश होता है। *बोधिचर्यावतार* तथा *माध्यमकवतार* इस बात पर सहमत हैं कि केवल सद्गुण, इस मार्ग के प्रज्ञा तत्त्व नहीं, परंतु उपाय तत्त्व का नाश होता है। इनमें विशेष रूप से दानशीलता के कारण संचित सद्गुण साथ ही साथ नैतिक मूल्यों पर आधारित अनुशासित जीवन से संचित पुण्य भी शामिल हैं। इसके विपरीत प्रज्ञा के अभ्यास से संचित पुण्य जैसे यथार्थ की वास्तविकता, ध्यानाभ्यास से उत्पन्न गुण, साधना से प्राप्त प्रज्ञा, क्रोध तथा विद्वेष के कारण नष्ट नहीं किए जा सकते।

यहाँ कल्प शब्द का उल्लेख हुआ है। यह एक विशिष्ट बौद्ध मापक प्रणाली है जो कि अभिधर्म प्रणाली पर आधारित है जिसमें कल्प का प्रयोग एक महाकल्प के संदर्भ में आया है जो कि बीस मध्य लंबाई वाले कल्पों से बना है। उसका संबंध ब्रह्मांड विज्ञान से भी है जिसमें विश्व की उत्क्रांति की प्रक्रिया को समझाया गया है। उदाहरण के लिए अभिधर्म ब्रह्मांड विज्ञान के अनुसार हम उत्क्रांति के समय को चार स्तरों में बाँटते हैं—शून्य अंतरिक्ष का समय, उत्क्रांति का समय, अस्तित्व का समय, और विनाश का समय। इन सभी का विभाजन इसी स्पष्ट प्रणाली के आधार पर हुआ है। आज के ब्रह्मांड विज्ञान के महाविस्फोटक के सिद्धांत में जिसमें उत्क्रांति की व्याख्या पंद्रह से बीस अरब वर्षों के

संदर्भ में हुई है, इसकी तुलना बहुत रोचक होगी।

इस श्लोक के अनुसार वे गुण जो कि प्रज्ञा तत्त्व से पूरित हैं, विशिष्ट रूप से यथार्थ के परम रूप के ज्ञान से शून्यता की समझ और साथ ही शमथ की प्राप्ति क्रोध तथा द्वेष से नष्ट नहीं किए जा सकते। इसलिए हम शून्यता और शमथ के ज्ञान के अर्जन को मूल्यवान समझते हैं।

न च द्वेषसमं पापं, न च क्षान्तिसमं तपः।
तस्मात्क्षान्तिं प्रयत्नेन भवयेद्विविधैर्नयैः॥ 2॥

द्वेष से बढ़कर कोई पाप नहीं, क्षमा से बढ़कर कोई तप नहीं। अतः विविध यत्नों से क्षांति का अभ्यास करना चाहिए।

साधारणतया कई कष्टदायी भावनाएँ हैं जैसे दर्प, अहंकार, ईर्ष्या, लालसा, कामुकता, संकुचित दृष्टिकोण इत्यादि। परन्तु इन सब में विद्वेष या क्रोध को सबसे बड़ी बुराई माना जाता है। इसके दो कारण हैं। एक तो यह कि परमार्थ तथा एक अच्छे हृदय के लिए बोधिचित्ताभ्यासी के मार्ग में द्वेष या क्रोध, मार्ग का सबसे बड़ा रोड़ा है। दूसरे, जब द्वेष या क्रोध जन्म लेते हैं तो उनमें व्यक्ति के सद्गुणों और चित्त की शांति को नष्ट करने की क्षमता होती है। इन्हीं कारणों से द्वेष को परम शत्रु माना जाता है।

बौद्ध मनोविज्ञान के अनुसार द्वेष छः आधारभूत कष्टदायी भावनाओं में से एक है। तिब्बती भाषा में इसके लिए 'शेदांग' शब्द है जिसका हिंदी अनुवाद द्वेष या क्रोध के रूप में होता है। यद्यपि मेरे विचार में इसका अनुवाद द्वेष के रूप में होना चाहिए क्योंकि विशिष्ट परिस्थितियों में क्रोध सकारात्मक हो सकता है। यह उस समय स्पष्ट होता है जब क्रोध करुणा भावना से प्रेरित होता है या वह किसी सकारात्मक कार्य में एक प्रेरक शक्ति के रूप में कार्य करता है। ऐसी असाधारण परिस्थितियों में क्रोध सकारात्मक होता है जबकि द्वेष कभी भी सकारात्मक नहीं हो सकता। वह पूर्ण रूप से नकारात्मक है।

चूँकि द्वेष पूर्णतया नकारात्मक है इसलिए इसका प्रयोग तिब्बती शब्द 'शेदांग' के रूप में कभी नहीं होना चाहिए विशेषकर तंत्र के संदर्भ में। कभी-कभी यह उक्ति सुनने में आती है 'मार्ग में द्वेष को लाना'। यह गलत अनुवाद है। इस संदर्भ में द्वेष उचित शब्द नहीं है। व्यक्ति को क्रोध शब्द का प्रयोग करना चाहिए 'मार्ग में क्रोध को ले आना'। इस तरह तिब्बती शब्द का अनुवाद क्रोध या द्वेष दोनों रूपों में हो सकता है। पर चूँकि क्रोध सकारात्मक हो सकता है इसलिए जब शेदांग 'कष्टदायी भावनाओं के संदर्भ में प्रयुक्त होता है तब इसका अनुवाद द्वेष के रूप में होना चाहिए।

दूसरे श्लोक की अंतिम दो पंक्तियाँ हैं, अत: विविध यत्नों से क्षांति का अभ्यास करना चाहिए। चूँकि सहनशक्ति की क्षमता का विकास तथा क्षांति का अभ्यास ही उद्देश्य है, आवश्यकता इस बात की है कि क्रोध और द्वेष की शक्तियों का विरोध किया जाए विशेषकर द्वेष का। क्षांति को भलीभाँति समझने के लिए सभी प्रकार के उपायों का प्रयोग करना चाहिए। इसमें केवल वास्तविक जीवन में होने वाली परिस्थितियाँ ही शामिल नहीं परन्तु अपनी कल्पना द्वारा ऐसी परिस्थितियों का चित्र खींचो और देखो कि उस परिस्थिति में तुम्हारी प्रतिक्रिया क्या होगी। हमें बार-बार द्वेष का सामना कर धैर्य तथा क्षांति की क्षमता का विकास करना चाहिए।

मन: शमं न गृह्णानि न प्रीतिसुखमश्नुते।
न निद्रां न धृतिं याति द्वेषशल्ये हृदि स्थिते॥ 3॥

हृदय में द्वेष का काँटा रहते न मन को शांति मिलती है, न शारीरिक सुख। न नींद आती है और न स्थिरता रहती है।

यह श्लोक द्वेष के विनाशकारी प्रभाव जो कि बहुत स्पष्ट, प्रत्यक्ष तथा तात्कालिक हैं की रूप रेखा स्पष्ट करता है। उदाहरण के लिए जब द्वेष एक प्रबल शक्तिशाली विचार के रूप में जन्म लेता है तो वह उसी क्षण व्यक्ति पर हावी होकर उसकी शांति तथा प्रत्युत्पन्नमति को नष्ट

कर देता है। जब वह द्वेषपूर्ण विचार मन में रहता है तब व्यक्ति तनावपूर्ण स्थिति में आ जाता है जिससे उसे भूख नहीं लगती, नींद नहीं आती, इत्यादि।

साधारण रूप से कहा जाए तो मैं यह मानता हूँ कि हमारे अस्तित्व का उद्देश्य प्रसन्नता व संतोष को प्राप्त करना है। बौद्ध दृष्टिकोण से भी जब हम सुख के चार तत्त्वों की या संतोष के चार तत्त्वों की बात करते हैं तो उनमें पहले दो का संबंध सांसारिक अर्थ में प्रसन्नता व सुख की प्राप्ति है। मुक्ति तथा बुद्धत्व की प्राप्ति जैसे परम धार्मिक तथा आत्मिक आकांक्षा को इसमें शामिल नहीं किया गया। पहले दो तत्त्वों का संबंध सांसारिक अर्थ में समझे जाने वाले प्रसन्नता व सुख से है। उस स्तर की प्रसन्नता व सुख का अनुभव करने की कुंजी व्यक्ति की मानसिक स्थिति है। यद्यपि ऐसे कई तत्त्व हैं जो इस स्तर के सुख व प्रसन्नता की प्राप्ति में अपना योगदान देते हैं जिन्हें हम साधारण तौर पर सुख का स्रोत मानते हैं, जैसे अच्छा स्वास्थ्य जो सुखी जीवन के लिए एक आवश्यक तत्त्व माना जाता है। दूसरा तत्त्व वह संपत्ति है जिसका हम संचय करते हैं। पारंपरिक रूप से हम इसे प्रसन्नता व सुख का आधार मानते हैं। तीसरा तत्त्व है मित्रों व साथियों का होना। सुखी व संतोषपूर्ण जीवन के संबंध में हमारी यह धारणा है कि ऐसे जीवन के लिए हमें ऐसे मित्रवर्ग की आवश्यकता है जिन पर हम विश्वास कर सकें और जिनसे हम रागात्मक संबंध जोड़ सकें।

अब वास्तविक रूप से ये सभी सुख के स्रोत हैं परंतु उनमें से किसी एक के उपयोग के लिए ताकि एक सुखी व संतोष से भरा जीवन जी सकें, व्यक्ति की मानसिक अवस्था अत्यंत महत्त्वपूर्ण है। यदि कोई मन में द्वेषपूर्ण विचार रखे या अंतरतम में प्रबल क्रोध की भावना रखे तब उस व्यक्ति का स्वास्थ्य नष्ट होता है। इस तरह वह एक तत्त्व का नाश कर देता है। व्यक्ति के पास चाहे कितनी ही सुन्दर वस्तुएँ क्यों न हों, यदि वह क्रोध से भरा हुआ हो तब उसकी इच्छा होती है कि वह उस वस्तु को तोड़ कर फेंक दे। इसलिए ऐसा कोई आश्वासन नहीं कि केवल संपत्ति ही व्यक्ति को सुख व संतोष दे सकती है जिसकी खोज में वह लगा है। इसी तरह क्रोधावेश या द्वेषपूर्ण स्थिति में एक

अंतरंग मित्र भी उदासीनता या खीज उत्पन्न कर सकता है।

यह इस बात का सूचक है कि हमारी मानसिक स्थिति ही इस बात का निर्णय करती है कि हम प्रसन्नता तथा सुख प्राप्त करते हैं या नहीं। इस तरह धर्म के अभ्यास को एक ओर रख भी दिया जाए तो सांसारिक संदर्भ में भी हमारे दैनिक जीवन का सुख अनुभव करने के लिए हमारा चित्त जितना अधिक शांत होगा हममें एक सुखी व प्रसन्न जीवन का अनुभव करने की उतनी ही अधिक क्षमता होगी।

हालाँकि जब हम चित्त की शांत अवस्था की बात करते हैं तब हम इस भ्रम में न रहें कि ऐसी स्थिति पूर्णतः संवेदनहीन भावशून्यता की स्थिति है जिसमें हृदय भावहीन होता है, जहाँ कोई संवेदना नहीं होती या वह पूर्ण रूप से शून्य होता है। जब मैं शांत चित्त की बात करता हूँ तो इसका यह अर्थ नहीं।

शांतचित्त का विशुद्ध रूप स्नेह तथा करुणा पर आश्रित है। इसमें संवेदनशीलता तथा भावनाएँ उच्च स्तर की होती हैं। जब तक हमारे अंदर आंतरिक अनुशासन की कमी है, आंतरिक शांत चित्त का अभाव है तब तक हमें कितनी ही बाह्य सुविधाएँ क्यों न प्राप्त हों, वे हमें वह सुख तथा प्रसन्नता नहीं दे सकतीं जिसकी हमें खोज है। इसके विपरीत यदि हममें शांत चित्तता का गुण हो तो साधारण तथा एक सुखी जीवन के लिए आवश्यक मानी जाने वाली बाहरी सुविधाओं के अभाव में भी, एक सुखी तथा प्रसन्नतापूर्ण जीवन जिया जा सकता है।

यदि हम इस बात की जाँच करें कि हमारे हृदय में किस तरह क्रोध तथा द्वेषपूर्ण विचार उठते हैं तब हम पाते हैं कि उनका जन्म उस समय होता है जब हमें चोट पहुँचती है, जब हमें ऐसा अनुभव होता है कि हमारी अपेक्षाओं की तुलना में किसी ने हमारे साथ न्यायोचित व्यवहार नहीं किया है। यदि हम उस क्षण का सावधानी से परीक्षण करें कि वह क्रोध किस तरह उत्पन्न होता है तब ऐसा अनुभव होता है कि वह एक रक्षक के समान, एक मित्र के समान आता है और जिस व्यक्ति ने हमें चोट पहुँचाई है उसके विरुद्ध संघर्ष में हमारी मदद करता है। अतः क्रोध या विद्वेष के जो विचार उत्पन्न होते हैं वे एक कवच एक रक्षक के समान प्रतीत होते हैं। परंतु यह एक भ्रम है, चित्त की एक भ्रामक स्थिति है।

चंद्रकीर्ति ने अपने ग्रंथ माध्यमकावतार में कहा है कि यदि प्रतिकार किसी रूप में सहायक हो या जो हानि हुई है उसे कम कर सके तो शक्ति का उत्तर शक्ति से देने में कोई औचित्य जान पड़ता है। परंतु ऐसा नहीं है क्योंकि शारीरिक चोट या जो भी हानि हुई है वह घटित हो चुकी है इसलिए प्रतिशोध उस हानि या चोट को किसी भी रूप से कम नहीं कर सकता या रोक नहीं सकता जो पहले ही हो चुकी हो।

यदि कोई किसी परिस्थिति में सहिष्णुता से व्यवहार न कर नकारात्मक रूप से व्यवहार करता है तो इससे तात्कालिक लाभ तो होता नहीं अपितु एक नकारात्मक भावना और व्यवहार का जन्म होता है जो कि व्यक्ति के स्वयं के भविष्य के पतन का बीज रूप है। बौद्ध दृष्टिकोण से प्रतिशोध का परिणाम व्यक्ति को अपने आगामी जीवन में अकेले ही भुगतना ही पड़ता है। इस प्रकार तात्कालिक लाभ तो है ही नहीं परंतु दीर्घकालीन संदर्भ में भी व्यक्ति के लिए हानिकारक है।

जबकि यदि किसी के साथ बहुत ही अन्यायपूर्ण व्यवहार हुआ हो और यदि उस परिस्थिति में कोई कदम नहीं उठाया गया तो अपराध फैलाने वाले को अत्यधिक नकारात्मक परिणामों का सामना करना पड़ सकता है। ऐसी परिस्थिति में एक प्रबल प्रतिकार्य की आवश्यकता होती है। ऐसी हालत में यह संभव है कि अपराधी के प्रति करुणाशील भावना बिना किसी क्रोध या द्वेष की भावना से एक कठोर कदम उठाएँ और एक प्रबल प्रतिकार्य करें। बोधिसत्व के नियमों में एक नियम यह है कि यदि परिस्थिति की माँग हो तो एक प्रबल प्रतिकार्य किया जाए। यदि परिस्थिति की माँग होने पर भी बोधिसत्व कोई प्रबल कदम नहीं उठाता तो वह बोधिसत्व के अनुशासन के नियमों से एक को भंग करना है।

इसके अतिरिक्त जैसा कि *माध्यमकावतार* में संकेत दिया गया है कि द्वेषपूर्ण विचारों की उत्पत्ति न केवल भावी जीवन में अनचाहे रूप वाले अस्तित्व की ओर ले जाती है पर साथ ही साथ जब क्रोध एक प्रबल आवेश के रूप में जन्म लेता है तो व्यक्ति कितना ही गौरवशाली दिखने का प्रयास क्यों न करे उसका चेहरा कुछ असुंदर सा हो जाता है। उसकी मुखाकृति भी कुछ अरुचिकर हो जाती है और वह विरोधी भावनाओं का संकेत देता है। अन्य व्यक्ति इस बात का अनुभव कर

सकते हैं और ऐसा आभास होता है मानो उस व्यक्ति के शरीर से भाप निकल रही हो। वास्तव में इसकी अनुभूति न केवल मनुष्य कर सकते हैं पर पालतू जानवर तथा पशु-पक्षी भी उस क्षण उस व्यक्ति से कतराते हैं।

यह सब द्वेष के तात्कालिक परिणाम हैं। वह व्यक्ति में एक बहुत ही असुंदर अरुचिकर परिवर्तन लाता है। इसके अतिरिक्त जब इस तरह क्रोध तथा द्वेष की अति होती है तब वह हमारे दिमाग के सर्वश्रेष्ठ भाग जिसमें अच्छे बुरे को पहचानने की शक्ति और अल्पकालीन तथा दीर्घकालीन परिणामों का निर्धारण करने की क्षमता होती है, की कार्य क्षमता को समाप्त कर देता है। वह फिर कार्य नहीं कर पाता। उसकी हालत पागलों-सी हो जाती है। ये सब क्रोध तथा द्वेष जनित नकारात्मक प्रभाव हैं। जब हम क्रोध तथा द्वेष के इन नकारात्मक तथा विनाशकारी प्रभावों को देखते हैं तब यह स्पष्ट हो जाता है कि ऐसी भावुक विस्फोटक स्थिति से अपने आपको दूर रखना आवश्यक है। जहाँ तक कि क्रोध तथा द्वेष के विनाशकारी प्रभावों का संबंध है, हमें संपत्ति से सुरक्षा नहीं मिल सकती। चाहे वह लखपति ही क्यों न हो वह द्वेष और क्रोध के इन नकारात्मक प्रभावों से प्रभावित होता है। इसी तरह कानून भी सुरक्षा का आश्वासन नहीं दे सकता। आणविक अस्त्र भी, फिर चाहे हमारी सुरक्षा व्यवस्था कितनी ही मँजी हुई क्यों न हो, इन प्रभावों से हमें बचा नहीं सकती या सुरक्षा नहीं दिला सकती।

केवल एक ही तत्त्व जो क्रोध तथा द्वेष के नकारात्मक प्रभावों से हमें सुरक्षा दिला सकती है और वह सहिष्णुता तथा क्षांति का अभ्यास है।

ध्यान

अब हम पाँच मिनट तक मौन साधना कर अब तक जो चर्चा की है उस पर चिंतन करें।

प्रश्नोत्तर

प्रश्न : उस रात आपने कहा था कि हमारी प्रकृति करुणा तथा कोमलता की है?

उत्तर : हाँ।

प्रश्न : तब यह द्वेष कहाँ से आता है?

उत्तर : यह एक ऐसा प्रश्न है जिसके लिए लम्बी चर्चा की आवश्यकता है। बौद्ध धर्म के दृष्टिकोण से सीधा-सरल उत्तर है कि यह अनादि है। इसकी आगे व्याख्या की जाए, तो बुद्धानुवादी मानते हैं कि चेतना के विभिन्न स्तर होते हैं। चेतना का सूक्ष्मतम स्तर वह है जिसे हम पूर्वजन्म, इस जन्म और आगामी जन्मों का आधार मानते हैं यह सूक्ष्म चेतना एक नश्वर तथ्य है जो कार्य कारण के परिणामस्वरूप जन्म लेती है। बौद्धों ने यह निष्कर्ष निकाला है कि चेतना केवल तत्त्वों से निर्मित नहीं हो सकती। इसलिए स्वीकार करने के लिए चेतना की निरंतरता ही मात्र एक विकल्प रह जाता है। इस तरह वही पुनर्जन्म के सिद्धांत का आधार है।

जहाँ चेतना है, अविद्या तथा द्वेष भी सहज रूप से जन्म लेते हैं। यह नकारात्मक भावनाएँ तथा सकारात्मक भावनाएँ अनादि काल से हैं। यह सब कुछ हमारे चित्त का एक अंग है। परंतु यह नकारात्मक भावनाएँ वास्तव में अज्ञान पर आधारित हैं जिसकी कोई तर्क-संगत आधारशिला नहीं। किसी भी नकारात्मक भावनाओं का, चाहे वे कितनी ही प्रबल क्यों न हों का कोई ठोस आधार नहीं होता। दूसरी ओर सकारात्मक भावनाएँ जैसे करुणा तथा प्रज्ञा का एक ठोस आधार होता है। वे कारण तथा समय से जुड़े होते हैं। कष्टदायी भावनाएँ जैसे क्रोध तथा द्वेष के साथ ऐसा नहीं है।

सूक्ष्म चेतना की मूल प्रकृति अपने आप में तटस्थ होती है। इसलिए इन सभी नकारात्मक भावनाओं का शुद्धीकरण या उन्हें नष्ट कर देना संभव है। उस मूल प्रकृति को हम बुद्ध प्रकृति अथवा तथागतगर्भता के नाम से जानते हैं। द्वेष तथा क्रोध नहीं। जैसे भावनाएँ अनादि हैं

उनका कोई आदि नहीं पर अंत है। चेतना का न आदि है न अंत; इस विषय में हम निश्चित हैं।

प्रश्न : हम यह कैसे निर्धारण करें कि एक प्रबल प्रतिकार्य आवश्यक है और वह क्या होगा ? कृपया समझाइए कि तिब्बती जन संहार को लेकर आपके कार्य से हम क्या सीख सकते हैं ?

उत्तर : जिस व्यक्ति ने तुम्हें हानि पहुंचाई हो उसके विरोध में एक प्रबल प्रतिकार्य को स्वीकार करने का एक कारण यह कि यदि हमने उसे अनदेखा कर दिया तो यह खतरा है कि वह व्यक्ति अत्यधिक नकारात्मक कार्यों का आदी हो जाएगा और अंततः वह न केवल उस व्यक्ति के पतन का कारण होगा पर साथ ही साथ यह उसके अपने लिए अत्यन्त विनाशकारी होगा। इसलिए एक करुणा जनित या दूसरों को ध्यान में रखते हुए एक प्रबल प्रतिकार्य बहुत आवश्यक है। जब तुम इस प्रकार की अनुभूति से प्रेरित होगे तो ऐसा कठोर कदम उठाने के पीछे दूसरों के प्रति संवेदनशीलता भी तुम्हारी प्रेरणा का एक तत्त्व होगा।

जहाँ तक हमारी चीन की सरकार से व्यवहार का संबंध है हमने सदैव नकारात्मक भावनाओं से बचने का प्रयास किया है। हमारा यह जागरूक प्रयास रहता है कि हम अपनी भावनाओं को अपने ऊपर हावी न होने दें। अतः अगर हमारे अंदर क्रोध के जागने की कोई संभावना होती भी है तो हम जानबूझकर उस पर रोक लगाकर उसको कम करने का प्रयास कर चीनी लोगों के प्रति करुणा की भावना का विकास करते हैं।

अपने घर अत्याचार कर रहे और आक्रमणकारी के प्रति करुणा भाव रखने का एक कारण यह है कि, क्योंकि वह अपराध कर रहा है वह हेतु स्तर पर है और कार्य कारण का संचयन कर रहा है जो बाद में अनचाहे प्रभावों को जन्म देगी। इसलिए उस दृष्टिकोण से हमारे लिए आक्रमणकारी के प्रति करुणा की भावना उत्पन्न करने हेतु पर्याप्त तर्क है।

इस प्रकार के चिंतन द्वारा हम चीनियों के साथ व्यवहार करने का प्रयास करते हैं। और आप ठीक कहते हैं, कि यह कहा जा सकता है

कि द्वेष तथा आक्रमण से व्यवहार का यह उदाहरण माना जा सकता है। पर साथ ही साथ हम अपने आदर्शों पर सुदृढ़ रहने और आवश्यक कार्यवाही करने को नहीं भूलते।

प्रश्न : अकसर जब हम द्वेष का प्रतिकार्य करते हैं, चाहे हमारे मन में द्वेष न हो, उससे अन्य व्यक्तियों की द्वेष भावना अधिक होती है। मैं इसका समाधान कैसे कर सकता हूँ ?

उत्तर : मेरे विचार से यह बहुत ही अच्छा प्रश्न है। ऐसी स्थितियों में परिस्थिति के अनुसार हमें तात्कालिक निर्णय लेना होगा। इसके लिए सही संदर्भ और परिस्थिति के प्रति संवेदनशील होना चाहिए। आप ठीक कहते हैं कि कुछ स्थितियों में बिना किसी द्वेष के एक प्रबल प्रतिकार्य से दूसरे व्यक्ति का द्वेष या क्रोध की मात्रा अधिक हो जाती है। अगर ऐसी स्थिति है तो उसे बिना कोई प्रबल प्रतिकार्य लिए यूँ ही छोड़ देना संभव है।

हालाँकि, यहाँ आपको किसी भी परिस्थिति के प्रति संवेदनशीलता के प्रभाव का निर्णय लेना होगा। यदि इसके कारण व्यक्ति में उसी प्रकार के कार्यों को दोहराने की बुरी आदत पड़ेगी जिसका दीर्घकालिक प्रभाव बुरा होगा तो यहाँ कठोर प्रतिकार्य की आवश्यकता है। परंतु यदि प्रतिकार्य परिस्थिति को और गंभीर कर देगा और व्यक्ति के द्वेष और क्रोध में अति होगी तब शायद परिस्थिति की माँग यही है कि बिना कोई प्रतिकार्य लिए हम परिस्थिति को यूँ ही छोड़ दें। इसलिए हमें किसी खास परिस्थिति के लिए संवेदनशील होना पड़ता है।

यह बौद्ध सिद्धांतों में से एक से बहुत मिलता-जुलता है और वह है कि जहाँ तक तुम्हारी निजी आवश्यकताओं का संबंध है आदर्श स्थिति तो यह होगी कि तुम्हारी उलझनें, कर्तव्य और कारबार कम हो। परंतु जहाँ तक एक बड़े समुदाय की भलाई का प्रश्न है जितना संभव हो सके उतने कार्यों व कारबार में अपने अपको उलझाना चाहिए।

प्रश्न : क्या कारण है कि क्रोध इतने सारे सद्‌गुणों का नाश कर देता है, इसके बजाय कि एक पल का क्रोध उतनी ही बराबरी

के गुण को नष्ट करे ? इसका कारण क्या यह है उस क्षण के सुख के निर्माण के लिए कल्पों से निर्मित सद्‌गुणों की आवश्यकता होती है और क्रोध हमें उस क्षण के सुख का अनुभव नहीं करने देता ?

उत्तर : इस प्रश्न का उत्तर देना और यह कहना कि मात्र यही कारण है बहुत कठिन है। शायद यह वह तथ्य है जिन्हें बौद्धानुयायी ''अत्यंत गुह्य तत्त्व'' के नाम से जानते हैं। साधारणतया, जब हम सत्य की प्रकृति तथा अपने परीक्षण की वस्तुओं की बात करते हैं, तो बौद्ध धर्म तत्त्वों को तीन वर्गों में बाँटता है : एक वर्ग में वह वस्तुएँ तथा घटनाएँ आती हैं जो हमारी इन्द्रियों के समक्ष स्पष्ट हैं। दूसरा वर्ग उन तथ्यों व घटनाओं का है जो बहुत स्पष्ट तो नहीं, परंतु जिनको अनुमान से समझा या अनुभूत किया जा सकता है। इसका एक उदाहरण है शून्यता की प्रकृति की समझ। यह स्पष्ट तो नहीं परंतु अपने विश्लेषणात्मक क्षमता के प्रयोग से हम शून्यता की प्रकृति का अनुमान लगा सकते हैं। इसी तरह हम वस्तुओं के अनित्य या क्षण-क्षण परिवर्तित होने को भी अनुमान से समझ सकते हैं। तीसरे स्तर या तथ्यों के वर्ग को शास्त्रीय रूप में 'अत्यंत गुह्य वस्तु' के नाम से जाना जाता है।

किसी बोधिसत्व के प्रति क्रोध या द्वेष की उत्पत्ति के संबंध में प्रश्न किया जाता है कि एक क्षण का द्वेष या क्रोध कल्पों से संचित सद्‌गुणों को नष्ट कर देता है। ये तथ्य ऐसे नहीं जिन्हें व्यक्ति तर्क से या अनुमान से समझ सकता है, वे स्पष्ट दिखाई देने वाली वस्तुएँ नहीं हैं। केवल हम उन्हें 'ग्रंथों के प्रमाण के आधार पर' समझ सकते हैं। जब हम किसी प्रमाण पर आश्रित होने या किसी ग्रंथ के प्रमाण पर आश्रित होने की बात करते हैं तब किसी भी धर्म ग्रंथ से काम नहीं चल सकता। प्रामाणिक ग्रंथों के कुछ विशिष्ट गुण होने चाहिए।

इस स्तर पर यह जानना महत्त्वपूर्ण है कि बौद्धानुयायी किस तरह ग्रंथों या विभिन्न प्रकार के प्रामाणिक ग्रंथों से संबंधित रहते हैं। बौद्ध परंपरा के अंतर्गत एक परंपरा का नाम है वैभाषिक परंपरा। इस विचारधारा के अनुसार जहाँ नव धर्म ग्रंथों का संबंध है वे ऐतिहासिक बुद्ध

शाक्यमुनि के प्रामाणिक उपदेश हैं। परिणामस्वरूप जहाँ तक वैभाषिकों का संबंध है, निश्चित ग्रंथों जिनके विषय में कोई संदेह नहीं और वे ग्रंथ जिनको ऐसे ही स्वीकार नहीं किया जा सकता में, अंतर नहीं किया जा सकता। हालाँकि महायान की सभी परम्पराएँ यह मानती हैं कि विभिन्न प्रकार के ग्रंथों में अंतर किया जाना चाहिए। कुछ ग्रंथों को शब्दशः और निश्चित रूप से स्वीकार किया जा सकता है जबकि अन्य ग्रंथों को शब्दशः स्वीकार नहीं किया जा सकता और उनकी और व्याख्या की अपेक्षा रहती है।

तो अब यह प्रश्न उठता है तो हम यह कैसे पता लगाएँ कि कोई विशिष्ट ग्रंथ निश्चित और शब्दशः लेने योग्य है ? यदि उसके लिए किसी अन्य संदर्भ ग्रंथ की आवश्यकता पड़े तो यह प्रक्रिया तो अनवरत रूप से चलती रहेगी क्योंकि उस ग्रंथ के लिए फिर किसी अन्य ग्रंथ की आवश्यकता पड़ेगी और उसके बाद फिर अन्य ग्रंथ, और यह प्रक्रिया तो चलती ही रहेगी। अंततः मनुष्य की तर्क शक्ति समझ पर ही प्रभुत्व निर्भर होगा। तर्क तथा समझ के आधार पर ही निश्चित ग्रंथ तथा भाषित किए जाने वाले ग्रंथ में अंतर स्थापित किया जा सकता है।

तब अगर ऐसी स्थिति है तो हम उस ग्रंथ की प्रामाणिकता को कैसे निश्चित करें जो उन तत्त्वों के बारे में बताता है जो तीसरे वर्ग का अत्यंत गुह्य तथ्य है।

यहाँ पर जैसे मैंने पहले संकेत दिया है कि केवल ग्रंथ की प्रामाणिकता, या बुद्ध के उपदेशों पर आश्रित रहकर उनकी प्रामाणिकता को स्वीकार किया जा सकता है इसके लिए शिक्षक की विश्वसनीयता यहाँ पर बुद्ध की प्रतिस्थापना आवश्यक है। इसको जिस तरह से किया जाता है वह ग्रंथ के संदर्भ में नहीं बल्कि बुद्ध के शब्दों का परीक्षण कर। उनके तत्त्वों से संबंधित उपदेश जिन्हें तर्क के आधार पर, अनुमान के आधार पर समझा जा सकता है इसके अंतर्गत मार्ग की प्रस्तुति और सत्य के वास्तविक स्वरूप की प्रस्तुति इत्यादि आ जाते हैं।

इन बिंदुओं के आधार पर यदि तुम उनकी प्रस्तुति की प्रामाणिकता को प्रतिस्थापित करो, तब तुम शिक्षक की विश्वसनीयता के प्रति आस्था का विकास कर सकते हो।

इसके अतिरिक्त हमें यह देखने के लिए कि ग्रंथ में कोई आंतरिक असंगतियाँ, या विरोधाभास नहीं है, ग्रंथ में प्रस्तुत अत्यंत गुह्य तत्त्वों का भी परीक्षण करना चाहिए।

इस तरह इन दोनों को मिलाकर यह पता लगता है कि बुद्ध एक विश्वसनीय शिक्षक हैं और ग्रंथ में किसी भी प्रकार की आंतरिक असंगतियाँ या विरोधाभास नहीं है। तब हम किसी भी विषय पर बुद्ध के विचारों को स्वीकार कर सकते हैं।

प्रश्न : हम अपने बच्चों को किस प्रकार क्षांति भावना सिखा सकते हैं ? अपने बच्चों में निहित क्रोध भावना के प्रति हमारी प्रतिक्रिया किस प्रकार की होनी चाहिए ?

उत्तर : इस प्रश्न के उत्तर में, कि हम अपने बच्चों को किस प्रकार क्षांति भावना सिखा सकते हैं तो बच्चों को शब्दों के माध्यम से क्षांति के मूल्य व महत्त्व के विषय में बताना बहुत कठिन है। यहाँ पर महत्त्वपूर्ण बात यह है कि हम उनके समक्ष एक अच्छा उदाहरण प्रस्तुत करें। यदि तुम स्वयं ही उग्र स्वभाव वाले हो और छोटी-छोटी उकसाहट पर क्रोधित हो जाते हो और तुम यह कहकर बच्चों को शिक्षा देते हो कि तुम्हें धैर्यवान होना चाहिए, क्षांति बहुत ही महत्त्वपूर्ण है, तो इसका कोई भी प्रभाव नहीं पड़ेगा।

बच्चों में निहित क्रोध के प्रति किस प्रकार की प्रतिक्रिया हो मेरे लिए कहना बहुत कठिन है परंतु वह ग्रंथ जो क्षांति के विकास से संबंधित है, में दिए गए सिद्धांत उन परिस्थितियों में भी लागू होते हैं।

प्रश्न : क्रोध या द्वेष के उत्पन्न होने पर उन्हें किन विधियों से कम किया जा सकता है ?

उत्तर : यहाँ पर आवश्यकता इस बात की है कि परिस्थिति का मूल्यांकन कर यह देखा जाए कि किन तत्त्वों ने उस विशिष्ट क्रोध या द्वेष को जन्म दिया है। उसी पर तुम्हारी प्रतिक्रिया आधारित होगी और उसी के आधार पर तुम व्यवहार करोगे। यद्यपि यह व्यक्ति पर भी आधारित रहता है कि वह दैनिक जीवन में किस प्रकार का अभ्यास

करता है पर इस विषय पर बाद में चर्चा की जाएगी।

प्रश्न : यदि क्षांति का कोई दूसरा रूप दुर्बलता नहीं है, तो एक बोधिसत्व किस प्रकार एक प्रबल प्रतिकार्य कर सकता है ?

उत्तर : बोधिसत्व के अर्थ को लेकर एक मामूली-सी भ्रांति हो सकती है। किसी को ऐसा नहीं सोचना चाहिए कि बोधिसत्व अत्यंत दुर्बल व्यक्ति होते हैं। देखा जाए तो बोधिसत्व सबसे अधिक वीर होते हैं। वे अपने सिद्धांतों पर अटल तथा निश्चित रहते हैं। पारंपरिक रूप से भी यदि व्यक्ति का पाँव दबा दिया गया हो या उपेक्षित किए जाने पर वे उसे सहन करते हैं तब हम उन्हें शक्तिशाली तथा वीर मानते हैं और सशक्त चरित्रवान व्यक्ति मानते हैं। अगर ऐसा है तो बोधिसत्व वे प्राणी हैं जिन्होंने प्रण किया है या इस निश्चय का विकास किया है कि वे सत्वों के चित्त के दुर्गुणों का सामना करेंगे। एक तरह से देखा जाए तो यह एक प्रकार का दंभ है परंतु यह उचित तर्क पर आधारित है। इस प्रकार की वीरता का व्यवहार कुछ अर्थों में दंभपूर्ण है परंतु नकारात्मक दृष्टि से नहीं।

यदि हम बोधिसत्वों द्वारा रचित अभिलाषा प्रार्थनाओं को पढ़ें, जैसे कि बोधिचर्यावतार के दशम परिच्छेद परिणामना में। हम देखते हैं कि बोधिसत्वों की कई अभिलाषाएँ हैं जो वास्तव में साकार नहीं की जा सकतीं। फिर भी उनके मन में इस प्रकार की कल्पना तथा अभिलाषा रहती है। मैं उन्हें नायक मानता हूँ। मेरे विचार से वे अत्यधिक वीर सत्व हैं। मैं इसे बिलकुल भी कमज़ोरी नहीं मानता। बोधिसत्वों का वैसा दृष्टिकोण होता है और उनमें निश्चित रूप से आवश्यकता पड़ने पर प्रबल प्रतिकार्य लेने की क्षमता होती है।

प्रश्न : जब हम अतीत के अभ्यासों से संचित पुण्य को समर्पित करते हैं तो क्या वह वर्तमान क्रोध या द्वेष भावना से नष्ट हो जाता है ?

उत्तर : यदि तुम्हारे समर्पण-मुक्ति पाने की प्रबल भावना, बोधिचित्त की भावना, परमार्थ की आकांक्षा, वस्तुओं की शून्यता की प्रवृत्ति की

अनुभूति के पूरक तत्त्व होंगे तब पुण्य विनाश की शक्ति से परे होगा और सुरक्षित रहेगा।

बौद्ध मार्ग में समर्पण अभ्यास का एक बहुत ही महत्त्वपूर्ण तत्त्व है। मैत्रेय के *अभिसमयालंकार* उन्होंने समर्पण के उचित अभ्यास के ढंग की रूपरेखा दी है तथा बोधिसत्व की एक प्रबल प्रेरणा के महत्व की ओर भी संकेत दिया है। जब तुम पुण्यों को समर्पित करते हो तुम्हारे अंदर बोधिचित्त की प्रबल प्रेरणा होनी चाहिए कि तुम अपने सारे पुण्य सत्वों की भलाई के लिए समर्पित कर दो। साथ ही साथ, जब तुम समर्पण करो तो तुम्हें तत्त्वों की शून्य प्रकृति, उनके मायावी प्रकृति के बारे में स्पष्ट अनुभूति होनी चाहिए। एक बार तुमने पुण्य का समर्पण किया तो उसमें इस पहचान की मोहर लगनी चाहिए कि कर्ता आंतरिक रूप से शून्य है और तुम्हारा कार्य तथा वस्तु जिसके प्रति कार्य संपादित हो, दोनों आंतरिक रूप से शून्य हैं। उसी को हम 'तीनों क्षेत्रों में मुहर लगाना' कहते हैं। इस तरह इन अभ्यासों द्वारा तुम पुण्यों को सुरक्षित रख सकते हो।

किसी भी व्यक्ति के धर्म के अभ्यास के प्रबल व शक्तिशाली होने के लिए अभ्यास के किसी एक अंग पर ध्यान देना ही पर्याप्त नहीं है। आवश्यकता है कई पूरक तत्त्वों जैसे प्रज्ञा, समर्पण इत्यादि। महायान मार्ग के संदर्भ में विशेष रूप में यह सच है।

दूसरा सत्र

जब हम मित्रता की बात करते हैं तब साधारणतया दो रूप पाते हैं। कुछ मित्रता सच्ची नहीं होती। उदाहरणार्थ वे—जो धन, शक्ति या पद पर आधारित होती है। इस प्रकार की मित्रता तब तक बनी रहती है जब तक उसके आधार शक्ति, सम्पत्ति या पदवी बनी रहती है। परन्तु एक बार ये आधार अदृश्य होने लगें तब मित्रता भी क्षरित हो जाती है।

दूसरी ओर ऐसी मित्रता भी होती है जो विशुद्ध मानवीय भावनाओं पर आधारित होती है, उसमें एक प्रकार की अंतरंगता जिसमें एक दूसरे से बाँटने तथा आपसी मेल की भावना होती है। इस प्रकार की मित्रता को मैं शुद्ध मानता हूँ क्योंकि यह व्यक्ति की सम्पत्ति, पदवी या शक्ति से बढ़ती या घटती नहीं है। उस प्रकार की मित्रता इस बात पर कायम रहती है कि दो व्यक्तियों में आपसी स्नेह या प्रेम की भावना है या नहीं। यदि स्नेह या प्रेम नहीं तो हम सच्ची मित्रता कायम नहीं रख सकते। यह बहुत ही स्पष्ट हैं :

पूजयत्यर्थमानैर्यान् येऽपि चैनं समाश्रिताः।
तेऽप्येनं हन्तुंमिच्छन्ति स्वामिनं द्वेषदुर्भगम्॥ 4॥

धन तथा सत्कार पाकर स्वयं जिस पर निर्भर है उस स्वामी को भी क्रोधवश मारने की इच्छा उत्पन्न होती है।

सुहृदोऽप्यु द्विजन्तेऽस्माद्ददाति न च सेव्यते।
संक्षेपान्नास्ति तत्किंचितक्रोधनो येन सुस्थितः॥ 5॥

इस प्रकार के क्रोधित मनुष्यों के मित्र भी उदास रहते हैं, दान से संतुष्ट करने पर भी दूर रहते हैं। अतः संक्षेप में क्रोध से कोई भी सुखी नहीं होता।

एवमादौनि दुःखानि करोतीत्यरिसंज्ञया।
यः क्रोधं हन्ति निर्बन्धात् स सुखीह परत्र च॥ 6॥

इस प्रकार के अनेक दुःख इसी क्रोध-शत्रु से उत्पन्न होते हैं। जो व्यक्ति अत्यन्त सावधानी से क्रोध को नष्ट करता है वह लोक तथा परलोक में सदा सुखी रहता है।

छठा श्लोक सहनशक्ति और क्षान्ति के मूल्य तथा लाभ को प्रस्तुत

करता है। व्यक्ति क्रोध तथा द्वेष के विनाशकारी प्रभाव पर तथा सहन शक्ति व क्षांति के लाभकारी प्रभाव पर जितना अधिक चिंतन करेगा, जितना अधिक वह इनको स्पष्ट रूप में समझ पाएगा वह उतना ही अधिक क्रोध तथा द्वेषपूर्ण विचारों के प्रति चौकन्ना रहकर सावधानी बरतेगा। परिणामतः सहनशक्ति तथा क्षांति जैसी भावनाओं से व्यक्ति का संबंध जुड़ जाएगा। यही चित्त पर एक महत्त्वपूर्ण प्रभाव छोड़ जाएगा। वैयक्तिक रूप से सहनशक्ति तथा क्षांति की क्षमता के विकास के प्रति उत्साह बढ़ेगा और इसी तरह व्यक्ति की क्षांति के विकास का अभ्यास भी बढ़ेगा।

एक बार यदि इस अभ्यास के लिए एक उच्च स्तर के उत्साह का विकास कर लिया जाए तो उसके बाद व्यक्ति को सहनशक्ति तथा क्षांति के विकास के वास्तविक अभ्यास में रत हो जाना चाहिए। इस संबंध में जो विधि अपनायी जाती है वह है कि उन कारणों और तत्त्वों को जानकर उनका परीक्षण करें जो क्रोध तथा द्वेष को जन्म देती हैं। समस्याओं और कठिन परिस्थितियों का सामना करने का बौद्ध दृष्टिकोण इससे बहुत मेल खाता है।

उदाहरणार्थ बौद्ध धर्म में कार्य कारण सिद्धांत को एक प्राकृतिक नियम के रूप में स्वीकारा जाता है और वास्तविकता के संबंध में हमें उस नियम को ध्यान में रखना पड़ता है। उदाहरण के लिए हमारे दैनिक अनुभवों में यदि कोई ऐसी घटनाएँ हैं जो अप्रिय हैं। यदि हम चाहें वह घटना न घटे इसकी सबसे उत्तम विधि है, कि वे कारण जो उन्हें जन्म देती हों, न रहें। इसी तरह यदि कोई किसी विशिष्ट घटना या अनुभव का अभिलाषी है तो तर्कसंगत कार्य यह होगा कि उन कारणों व परिस्थितियों को ढूँढ़ कर इकट्ठा करें जो उन घटनाओं को जन्म दे सकती हैं।

मानसिक स्थितियों व अनुभवों के साथ भी यही बात है। यदि कोई किसी विशिष्ट अनुभव की चाह करता है तो उसे उन कारणों को ढूँढ़ना चाहिए जो उन्हें जन्म दें, और यदि कोई किसी विशिष्ट अनुभव की इच्छा नहीं करता तो उसे यह निश्चित कर लेना चाहिए—वे कारण या परिस्थितियां जो उसे उत्पन्न करती हैं न हों।

इस कार्य कारण सिद्धांत को समझना अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। अपने द्वेष तथा क्रोध को कम कर और उन पर विजय प्राप्त करने की इच्छा करने के बाद यदि व्यक्ति केवल चाहे, या प्रार्थना करे कि क्रोध और द्वेष उत्पन्न न हों या फिर यह प्रार्थना कि वह गायब हो जाएँ तो ऐसा संभव नहीं। क्रोध या द्वेष साथ-साथ उत्पन्न होने पर यदि व्यक्ति कुछ करने का प्रयास करे तो उसका प्रभाव पड़ना मुश्किल है क्योंकि तत्क्षण व्यक्ति का चित्त क्रोध या द्वेष की प्रबलता से भरा रहता है। उस समय क्रोध को न उत्पन्न होने देने का कोई प्रयास मूर्खता होगी क्योंकि व्यक्ति तो पहले से ही आपे में नहीं है।

इसलिए सबसे उत्तम उपाय है कि उन कारणों को पहचाना जाए जो क्रोध तथा द्वेष को जन्म देती है।

अनिष्टकरणाज्जातमिष्टस्य च विघातनात्।
दौर्मनस्याशनं प्राप्य द्वेषो निहन्तिमाम्॥ 7॥

अनिष्ट तथा अभीष्ट कार्यों में बाधा के कारण दौर्मनस्य का भोजन पाकर द्वेष प्रबल होकर लोक-परलोक में हमें नष्ट करता है।

यह श्लोक बताता है कि वह तत्त्व जो क्रोध या द्वेष को भड़काता है, वह असंतोष है। एवं परेशान करने वाला असंतोष भाव, या फिर किसी बात के ठीक न होने का भाव ही वह अग्नि है जो क्रोध या द्वेष को जन्म देती है। व्यक्ति का यह प्रयास हो कि वह उस अग्नि को जन्म न लेने दे, इस अतृप्ति, असंतोष के भाव को जन्म न लेने दे। साधारणतया हमारे अंदर यह असंतोष पैदा होता है जब हमें यह लगता है कि या तो हमारे या हमारे प्रिय मित्रों के साथ अन्यायपूर्ण व्यवहार किया जा रहा है या वे संकट में हैं, लोग हमारे साथ या हमारे मित्रों के साथ अन्यायपूर्ण व्यवहार कर रहे हैं तो उस क्षण असंतोष अथवा अप्रसन्नता की भावना जागती है। साथ ही जब कोई हमारी उन्नति के मार्ग में बाधक बनता है तो हमें लगता है कि कोई हमें दबा रहा है और हमें क्रोध आता है। अतः यहाँ हमारा दृष्टिकोण है कारण कार्य के जाल को

समझते हुए उस शृंखला जो अत्यधिक भावुकता की स्थिति जैसे क्रोध या द्वेष की स्थिति में अंततः विस्फोटित हो जाता है, के जड़ तक पहुँचना है। उचित यही होगा उसे प्रारंभिक अवस्था में ही रोक लिया जाए, इसके बजाय कि हम द्वेष या क्रोध को पूर्ण रूप से उत्पन्न करने की प्रतीक्षा करें। उदाहरण के लिए यदि कोई नदी के प्रवाह को रोकना चाहे तो उत्तम विधि यही होगी कि स्रोत तक पहुँचकर कुछ किया जाए या तो उसकी धारा की दिशा बदल दी जाए या फिर कुछ और।

तस्माद्विधातयिष्यामि तस्याशनमहं रिपोः।
यस्मान्न मद्बधादन्यस्कृत्यमस्यास्ति वैरिणः॥ 8॥

इस द्वेष शत्रु का काम केवल हमें दुःख देना है। इसलिए इस शत्रु के भोजन दौर्मनस्य का नाश करना चाहिए जिससे वह प्रबल न बने।

यहाँ पर यह शत्रु आंतरिक शत्रु है जो हमारा सच्चा शत्रु है, परम शत्रु द्वेष। यह द्वेष भावना न केवल हमारे तत्कालिक चित्त स्थिरता तथा चित्त की शांति का विनाश करती है, परंतु यह हमें भी उलझन में डाल देती है। यह हमें बड़ी उलझी परिस्थितियों में डालती है जिसमें हम सदा उलझनों, समस्याओं तथा कठिनाइयों का सामना करते हैं।

अतः यहाँ जो कहा गया है कि वास्तव में हमारे आंतरिक शत्रु द्वेष का हमें हानि पहुँचाने के अतिरिक्त और कोई कार्य नहीं है। वर्तमान तथा भविष्य में हमारे विनाश के अतिरिक्त इसका कोई और अन्य कार्य नहीं।

यह साधारण शत्रुओं से बिलकुल अलग है। यद्यपि वह व्यक्ति जिसे हम शत्रु कहते हैं ऐसे कार्य करता है जो हमारे लिए हानिकारक हैं पर उसके पास अन्य काम भी होते हैं जैसे खाना, सोना इत्यादि। इस तरह चूँकि उसके पास अन्य काम भी हैं इसलिए चौबीसों घंटे वह हमारे विनाश में लगा नहीं रह सकता। दूसरी ओर द्वेष का हमारे विनाश के अतिरिक्त और कोई कार्य नहीं। इस तथ्य का अनुभव कर एक अभ्यासी होने के नाते यह निश्चय कर लेना चाहिए वह इस शत्रु द्वेष को कभी उत्पन्न न होने देगा।

द्वेष से सामना करते समय यह विचार उठना संभव है कि द्वेष मेरे चित का आंतरिक अंग है। वह मेरी मानसिकता का एक अंग है। मैं ऐसे प्रयास में किस तरह संलग्न हो जाऊँ जबकि मैं अपने ही चित्त के एक अंग का सामना कर रहा हूँ? यहाँ यह जानना लाभदायक होगा, कि मानवीय चित केवल जटिल ही नहीं परंतु अत्यधिक कुशल भी है। वह विषम परिस्थितियों का सामना करने के विभिन्न उपायों तथा दृष्टिकोणों को ढूंढ़कर उन्हें अपना भी सकता है।

उदाहरण के लिए बौद्ध ग्रंथ अभिसमयालंकार में प्रथम आर्य सत्य, दु:ख से संबंधित एक विशिष्ट साधना का प्रकार है जिसमें व्यक्ति अपने शरीर को एक शत्रु के समान समझकर उससे वार्तालाप करता है। इसी तरह बोधिचित्त अभ्यास के संदर्भ में जहाँ व्यक्ति परकल्याण की भावना का विकास करता है वहाँ भी साधना का एक प्रकार है जिसमें व्यक्ति अपनी आत्मकेंद्रित भावना, ऐसी आत्मा जो आत्मकेंद्रित भावना का साकार रूप है तथा एक अभ्यासी के बीच वार्तालाप करता है। इसी तरह यद्यपि द्वेष तथा क्रोध व्यक्ति के चित्त का एक भाग है व्यक्ति ऐसे प्रयास में व्यस्त रह सकता है जिसमें व्यक्ति क्रोध तथा द्वेष को एक वस्तु मानकर उनका सामना करता है।

इसके अतिरिक्त हमारे अपने दैनिक अनुभव में भी हम अकसर अपने आपको ऐसी स्थिति में पाते हैं जब हम स्वयं को दोषी ठहराते हैं। हम यह कहते हैं कि फलां-फलां दिन हम अपनी ही दृष्टि से गिर गए तब हमें अपने आप पर क्रोध आता है। वास्तव में आत्मा के दो अलग-अलग रूप नहीं हैं बल्कि केवल एक व्यक्ति की निरंतरता है। जो भी हो अपने आप की आलोचना में एक प्रकार की सार्थकता है। वह भी एक प्रकार का संवाद है इस बात को हम सब अपने अनुभव से जानते हैं। वास्तव में निरंतरता केवल एक है परंतु जिसे अलग-अलग दृष्टिकोणों से अपनाया गया है। जब कोई कहता है, कि मैंने गलत किया और वह अच्छा नहीं था व्यक्ति वास्तव में स्वयं की आलोचना कर रहा है। वह आत्म जो आलोचना कर रहा है वह इस दृष्टिकोण से कार्य कर रहा है जो अपने आपको संपूर्ण मानकर आलोचना कर रहा है और वह आत्म जिसकी आलोचना हो रही है वह किसी विशिष्ट अनुभव या

घटना के दृष्टिकोण से देखा जा रहा है। इस तरह हम आत्म से आत्म के संबंध की संभावना देख सकते हैं।

यहाँ पर व्यक्ति के निजी अस्तित्व के विभिन्न रूपों को देखना हितकारी होगा। उदाहरण के लिए हर एक बौद्ध संन्यासी को लें। उस व्यक्ति का एक बौद्ध संन्यासी के नाते अपना व्यक्तिगत अस्तित्व होगा। ''मैं एक बौद्ध संन्यासी हूँ।'' फिर अपने वैयक्तिक स्तर का एक और स्तर हो सकता है जो उसके बौद्ध संन्यासी और जातीय उद्‌गम होने का तत्त्व कोई महत्त्वपूर्ण भूमिका नहीं निभा सकता। वह यह सोच सकता है कि 'मैं एक मनुष्य हूं।' इस तरह हम व्यक्ति के निजी अस्तित्व में विभिन्न प्रकार के दृष्टिकोण पाते हैं। इससे यह संकेत मिलता है जब हम वस्तु को धारणात्मक स्तर पर देखते हैं तो हम उस तथ्य पर विभिन्न दृष्टिकोणों से विचार कर सकते हैं, फिर भी साधारणतया हम अत्यन्त चयनशील होते हैं। हम एक विशिष्ट दृष्टिकोण, उस तथ्य के एक विशिष्ट अंग पर केंद्रित रहते हैं और एक विशिष्ट दृष्टिकोण अपनाते हैं।

अत्यनिष्टागमेनापि न क्षोभ्या मुदिता मया।
दौर्मनस्येऽपि नास्तीष्टं कुशलं त्ववहीयते॥ 9॥

जैसा भी हो, अपने मन की सुख-शांति को स्थिर रखने के लिए सहन शक्ति को बढ़ावा देना चाहिए, क्योंकि दौर्मनस्य से इच्छा की पूर्ति तो नहीं होती अपितु वह पुण्य कर्म भी नष्ट कर देता है।

यह नवां श्लोक यह संकेत देता है कि क्षांति के अभ्यासी होने के नाते हम यह संकल्प लें कि ''जो कुछ हम पर टूटे हम अपने चित्त की प्रयत्नता को नष्ट नहीं होने देंगे।''

मानसिक प्रसन्नता का संकेत शांत चित्त या चित्त की स्थिरता से है जो कि असंतोष या अप्रसन्नता का प्रतिकारण है। इस निश्चय को करने कि व्यक्ति अपनी प्रसन्नता को कभी नष्ट न होने देगा का कारण यह है क्योंकि अप्रसन्न या असंतुष्ट रहकर व्यक्ति जो कुछ चाहता उसे कर नहीं पाता। इसलिए एक तरह से अप्रसन्न रहना बिलकुल निरर्थक

है। यह विनाशकारी भी है क्योंकि मानसिक प्रसन्नता तथा मानसिक स्थिरता का खोना ऐसी परिस्थितियों को जन्म देता है जहाँ क्रोध और द्वेष की उत्पत्ति से व्यक्ति के सद्गुणों में भी कमी आ जाती है।

यद्यरुत्येव प्रतीकारो दौर्मनस्येन तत्र किम्।
अन्य नास्ति प्रतीकारो दौर्मनस्येन तत्र किम्॥ 10॥

यदि प्रतिकार संभव हो, दौर्मनस्य न करके प्रतिकार के उपाय करना उचित है। यदि प्रतिकार होना असंभव हो तो दौर्मनस्य से कुछ अंतर नहीं होगा।

यहाँ पर शांतिदेव असंतोष से बचने का एक और कारण देते हैं वह यह कि यदि परिस्थिति या समस्या की प्रकृति सुधारने योग्य है तो उससे क्रोधित होने या अप्रसन्न होने की कोई आवश्यकता नहीं। दूसरी ओर यदि परिस्थिति ऐसी है कि समस्या या कठिनाइयों का कोई इलाज नहीं या समाधान नहीं तो वहाँ क्रोधित होने या अप्रसन्न होने का कोई नहीं है।

ग्यारहवें श्लोक में शांतिदेव उन तत्त्वों को स्पष्ट करते हैं जो साधारणतया असंतोष तथा मानसिक अप्रसन्नता की भावना को जन्म देती हैं।

दुःखं न्यक्कारपारुष्यमयशश्चेन्यनीप्सितम्।
प्रियाणामात्मनो वापि शत्रोश्चैतद्विपर्ययात्॥ 11॥

अभीष्ट या अनिष्ट भाव की यह प्रक्रिया बहुत ही विचित्र है क्योंकि हम अपने लिए या अपने प्रिय बंधुओं के लिए दुःख वेदना, तिरस्कार, आलस्य और अपकीर्ति नहीं चाहते परंतु इन्हीं बातों को हम शत्रु में देखना चाहते हैं।

यह आठ सांसारिक प्राप्ति को समझाता है साधारणतया यह सांसारिक

व्यवहार है कि जब कुछ अच्छी चीजें होती हैं तो प्रसन्नता होती है और जब बात बिगड़ती है तो अप्रसन्नता होती है। जब लोग हमारी प्रशंसा करते हैं तब हमें प्रसन्नता होती है और जब लोग हमारा अपमान करते हैं या हमारे विषय में बुरी बातें कहते हैं तब हमें दु:ख होता है। इसी तरह हमारी मनचाही भौतिक वस्तुओं के मिलने पर हम प्रसन्न होते हैं और जब नहीं मिलती तो दु:खी होते हैं। हम उस समय प्रसन्न होते हैं जब हमें प्रसिद्धि मिलती है और बदनाम होने पर दु:खी होते हैं। इस प्रकार जिस तरह इन आठ घटनाओं के संदर्भ में हमारी स्वाभाविक भावनाएँ उठती हैं उसी तरह हमारे मन में इसी प्रकार की भावनाएँ उठती हैं जब ये घटनाएँ हमारे निकट मित्रों परिवार के सदस्यों या किसी प्रिय के साथ घटती हैं।

यद्यपि जब हमारे शत्रुओं के साथ ऐसी है घटनाएँ घटती हैं तो ऐसा नहीं होता। शत्रु के साथ स्थिति बिलकुल विपरीत होती है जब हमारा शत्रु एक सफल जीवन जी रहा होता है हम अप्रसन्न होते हैं और जब शत्रु का भाग्य विनाश की ओर जा रहा होता है तब हम प्रसन्न होते हैं। यह हमारा साधारण व्यवहार है।

यह इस बात का सूचक है कि हममें वेदना, दु:ख और समस्याओं से अरुचि और प्रसन्नता, आनंद तथा सुख को खोजने की एक सहजजात प्रवृत्ति होती है। चूंकि हमारा असंतोष या अप्रसन्नता का भाव इस स्वाभाविक प्रवृत्ति से उत्पन्न होता है इसलिए शांतिदेव का यह सुझाव है कि पीड़ा के प्रति हमारी प्रवृत्ति में परिवर्तन आना चाहिए। संभव है कि पीड़ा उतनी बुरी नहीं, जितना हम सोचते हैं।

परिणामत: दु:ख के इस पूरे प्रश्न को बौद्ध धर्म के परिप्रेक्ष्य में समझना आवश्यक है। बुद्ध के अपने सार्वजनिक उपदेशों में जो पहला उपदेश दिया वह चार आर्य सत्य का था उसमें से पहला दु:ख का सत्य था। इस उपदेश में उन्होंने अस्तित्व की वेदनाजनक प्रकृति पर अत्यधिक बल दिया। दु:ख पर चिंतन इतना अधिक महत्त्वपूर्ण इसलिए है क्योंकि यहाँ एक विकल्प है, इससे बचने का एक उपाय है जो कि दु:खों से विमुक्ति की संभावना है। यही कारण है कि वेदना की प्रकृति को समझना अत्यधिक महत्त्वपूर्ण है। अन्यथा यदि वेदना से विमुक्ति की

कोई संभावना न होती तो दु:ख पर चिंतन करना केवल रोगग्रस्त चिंतन और नकारात्मक होता।

यहाँ शांतिदेव हमें प्रोत्साहित करते हैं। भविष्य में अत्यधिक दु:खों से छुटकारा पाने के लिए वह आग्रह करते हैं कि हम एक विशिष्ट व्यवहार अपनाएँ ताकि इस उच्चतर उद्देश्य के लिए हम तात्कालिक कठिनाइयों का सामना कर सकें।

बारहवां श्लोक कहता है--

कथंचिल्लभ्यते सौख्यं दु:खं स्थितमयत्नत: ।
दु:खेनैव च नि:सार: चेतस्तस्माद्दृढी भव ॥ 12 ॥

संसार में तो दु:ख ही दु:ख है, सुख के अवसर बहुत कम है। यही जब संसार का स्वभाव है तब दु:ख को स्वीकार करके दु:ख से लाभ उठाना चाहिए, क्योंकि दु:ख का अनुभव किए बिना संसार से मुक्त होने की इच्छा नहीं हो सकती, अत: अपने मन को इस पर स्थिरता के साथ विचार करने के लिए प्रेरित करना चाहिए।

जहाँ हम यह देखते हैं कि ऐसे कई तत्त्व और परिस्थितियाँ हैं जो हमारे जीवन में दु:ख और पीड़ा पहुँचाते हैं परंतु वे परिस्थितियाँ जो सुख व प्रसन्नता को जन्म देते हैं अपेक्षाकृत दुर्लभ हैं। चूँकि यही हमारे अस्तित्व की वास्तविकता है इसलिए ऐसे व्यवहार को अपनाने में ही बुद्धिमानी है, जो अधिक सहिष्णुता को जन्म देती है। दु:ख हमारी वास्तविकता का एक अंग है, हमारे अस्तित्व का एक स्वाभाविक तथ्य है। हम चाहें या न चाहें पर हमें इन्हें भोगना ही पड़ता है। उचित यही होगा कि हम ऐसा व्यवहार अपनाएँ ताकि हम इसे सहन कर सकें न कि यह हमारी मानसिकता पर अत्यधिक प्रभाव डालें। यदि हममें उस स्तर की मानसिकता न हो तो जीवन दु:खपूर्ण हो जाएगा। उदाहरण के लिए यदि रात्रि बुरी हो तो वह अनन्त जान पड़ती है और लगता है कि कभी खत्म न होगी। इसी तरह यदि व्यक्ति दु:ख को सहन करने की प्रवृत्ति न अपनाए तो जीवन और अधिक दु:खदायी हो जाएगा।

उदाहरण के लिए जब किसी का पालन-पोषण अत्यंत सुविधाजनक पर्यावरण में भौतिक सुखों के बीच होता है और जिसने कोई कठिनाइयाँ झेली ही नहीं हैं तो वह व्यक्ति सुख-सुविधा का इतना आदी हो जाता है कि उसमें दु:खों को सहन करने की शक्ति अत्यधिक कम हो जाती है। यदि थोड़ी-सी भी कठिनाई उसके जीवन में आए तो वह उसे झेल नहीं पाता। मेरे स्वर्गीय बड़े भाई लॉवसांग सामटेन जो अमरीका में कई वर्ष रहे, कहा करते थे कि यदि वहाँ थोड़ी देर के लिए बिजली चली जाए और न आए, तो संभवत: कई व्यक्तियों की भूख के कारण मृत्यु हो जाएगी क्योंकि बहुत कुछ बिजली पर निर्भर है। फ्रीज़र, रेफ्रिजरेटर, बिजली के चूल्हे इत्यादि द्वारा जीवन की सुविधाएँ बहुत अधिक बढ़ गई हैं। शहरों में कई गगनचुम्बी इमारते हैं जिनमें लिफ्ट हैं और यदि बिजली न हो तो लिफ्ट काम नहीं कर सकतीं। तब ऊपर की मंजिलों में रहने वालों को या तो एक लम्बे ध्यान की तैयारी करनी होगी या फिर यदि ठंड का मौसम हो तो वे ठंड से मर जाएंगे।

बारहवें श्लोक की अंतिम दो पंक्तियाँ हैं--

दुखेनैव च नि:सार: चेतस्तस्माद् दृढौ भव।

दु:ख का अनुभव किए बिना संसार से मुक्त होने की इच्छा नहीं हो सकती, अत: अपने मन को इस पर स्थिरता के साथ विचार करने के लिए प्रेरित करना चाहिए।

यह दो पंक्तियाँ हमें यह बताती हैं कि दु:ख पर चिंतन करना महत्त्वपूर्ण ही नहीं परंतु ऐसा करने से कई लाभ हैं। दु:ख पर चिंतन अत्यधिक महत्त्वपूर्ण है क्योंकि दु:ख की प्रकृति को पहचानकर ही एक विशुद्ध त्याग भावना की उत्पत्ति हो सकती है। इस बंधन से मुक्ति की विशुद्ध भावना।

उदाहरणार्थ बौद्ध अभ्यासी के लिए न केवल तात्कालिक दु:ख और प्रत्यक्ष पीड़ा पर चिंतन आवश्यक है परंतु इस अस्तित्व के दु:ख तथा असंतोषमय रूप के विषय पर भी चिंतन आवश्यक है। जब तक

व्यक्ति कर्म तथा भ्रांति के प्रभाव में रहता है तब तक वह दु:ख तथा असंतोषमय स्थिति में रहता है। इस तरह हम प्रत्यक्ष दु:ख जैसे पीड़ा, मुश्किलें, चोट इत्यादि को अस्तित्व के असंतोषजनक प्रकृति के संकेत के रूप में देखते हैं। वह इस आधारभूत प्रकृति के संकेत या सूचक चिह्न के समान है।

कभी कभी जब मैं बौद्धाभ्यासी मित्रों से मिलता हूँ जो मुश्किलों, पीड़ा या दु:खों के बारे में शिकायतें करते हैं, तब मैं हँसी-हँसी में उनसे कहता हूँ कि एक तरह से हमें इनका कृतज्ञ होना चाहिए क्योंकि आदर्श रूप में तो हम दु:ख पर ध्यान कर अनुभव ग्रहण करते हैं। चूँकि ऐसा नहीं हो रहा इसलिए हमारा शरीर स्वयं हमें हमारे असंतोषजनक अस्तित्व के विषय में बता रहा है। अत: हमें इन पीड़ाओं व दु:खों के प्रति कृतज्ञ होना चाहिए।

दुर्गापुत्रककर्णाटा दाहच्छेदादिवेदनाम्।
वृथा सहन्ते मुक्त्यर्थमहं कस्मात्तुकातर: ॥ 13 ॥

महानवमी आदि अवसरों पर चंडी के उपासक लोग दागने और काटने की पीड़ाओं को सहते हैं। दक्षिण-भारत के कर्नाटक प्रदेश में मान के लिए लोग जब व्यर्थ में ही अनेक प्रकार के दु:ख भोगते हैं तो प्राणिमात्र के कल्याण जैसे अर्थपूर्ण कार्य के लिए दु:ख सहने में प्रसन्नता होनी चाहिए।

यदि लोग उस उद्देश्य को प्राप्त करने के लिए जो परम नहीं हैं, कठिनाइयों, पीड़ाओं और मुश्किलों का सामना करने के लिए तैयार हैं तो मैं, जो दु:खों से पूर्ण मुक्ति पाने की लालसा करता हूँ किंचित दु:खों का सामना क्यों नहीं कर सकता। हमें यह सुझाव कई बौद्ध ग्रंथों में मिलता है। यह बुद्धिमानों का तरीका नहीं है कि वे किसी छोटे उद्देश्य के लिए कुछ महान उद्देश्यों का त्याग कर दें, बल्कि बुद्धिमानों का तरीका किसी महान उद्देश्य के लिए किसी छोटे उद्देश्य का त्याग करना है। एक तिब्बती कहावत है कि एक हजार पाने के लिए एक सौ का

त्याग करना संभव होना चाहिए। हम यह सोच सकते हैं कि किसी महान उद्देश्य के लिए व्यक्ति में किसी छोटी वस्तु का त्याग करने की क्षमता होनी चाहिए, किंतु फिर भी हम इस बात को लेकर शंकित रहते हैं कि क्या हममें ऐसा करने की क्षमता है? यह संभव है कि हम निराश या हतोत्साहित हो जाएँ।

इसलिए चौदहवें श्लोक में शांतिदेव कहते हैं कि निराश अथवा हतोत्साहित होने की कोई आवश्यकता नहीं क्योंकि चाहे कोई भी कार्य हो निरंतर—पहचान व अभ्यास से उसे अपेक्षाकृत सरल व स्वीकारने योग्य बनाया जा सकता है। श्लोक है :

न किंचिदस्ति तद्धस्तु यदभ्यासस्य दुष्करम्।
तस्मान्मृदुव्यथाभ्यासात् सोढव्यापि महाव्यथा॥ 14॥

ऐसी कोई वस्तु नहीं जो अभ्यास से दुष्कर हो। इसलिए हमें हलकी व्यथा सहन करके अभ्यास करने से महाव्यथा सहन करने की क्षमता उत्पन्न करनी चाहिए। जब कोई किसी खास कार्य या अभ्यास में लगा तो यह संभव है कि प्रारंभ में उसे वह कठिन लगे पर निरंतर पहचान तथा अपनी दृढ़ता से उस पर बल देकर यह अपेक्षाकृत सरल हो जाता है। ऐसा नहीं है कि अभ्यास स्वयं सरल हो गया है परंतु यह कि व्यक्ति का व्यवहार और व्यक्ति का अपना मानसिक स्तर उसके और निकट हो जाता है। इसी कारण तथ्यों का स्वरूप बदला-सा लगता है।

निम्नलिखित श्लोकों में शांतिदेव उन दु:खों तथा पीड़ाओं का उदाहरण देते हैं जिनसे परिचित अथवा लगातार संबंधित रहने से व्यक्ति उनके आदी हो जाते हैं।

उद्दंशदंशमशकक्षुत्पिपासादिवेदनां।
महत्कण्ड्वादिदु:खं च किमनर्थं न पश्यसि॥ 15॥

क्योंकि सर्प, मच्छर, भूख-प्यास, खुजली आदि के दु:खों को

अभ्यासवश व्यर्थ में सहा जाता है, फिर भी हम उन्हें क्यों नहीं देखते।

शीतोष्णावृष्टिवाताध्वव्याधिबन्धनताडनैः।
सौकुमार्यं न कर्तव्यमन्यथा वर्धते व्यथा॥ 16॥

कम सहन शक्ति के कारण शीत उष्ण, वर्षा, हवा, रोग, बंधन और ताड़न जैसी अवस्थाओं का अधिक दुःख अनुभव होता है, अतः सहनशक्ति बढ़ाकर दुःख कम करना चाहिए।

केचित्स्वशोणितं दृष्ट्वा विक्रमन्ते विशेषतः।
परशोणितमप्येके दृष्ट्वा मूर्च्छां व्रजन्ति च॥ 17॥

स्पष्ट रूप से हमें यह देखने को मिलता है कि कुछ लोगों में अपने शरीर से लहू बहता देखकर वीरता और स्थिरता उत्पन्न होती है परंतु कुछ लोग ऐसे भी हैं, जो दूसरों का लहू देखकर बेहोश हो जाते हैं।

यहाँ शांतिदेव दो प्रकार के लोगों का उदाहरण देते हैं जब कुछ लोग रक्त देखते हैं फिर चाहे वह अपना ही क्यों न हो तो उनका अपना साहस और वीरता अधिक हो जाती है। जबकि कुछ अन्य लोग जब अपना या अन्य लोगों का रक्त देखते हैं, तो वे बेहोश होकर गिर पड़ते हैं। निरंतर प्रतिबद्धता और जान-पहचान के कारण ही यह अंतर आता है। अठारहवें श्लोक का प्रारंभ है :

तच्चित्तस्य दृढत्वेन कातरत्वेन चागतम्

ऐसा, चित्त के दृढ़ या कातर होने के कारण होता है।

अगली दो पंक्तियों में हमने अब तक जो कुछ चर्चा की है उसका संक्षिप्त रूप है।

दुःखदुर्योधमस्तस्माद् भवेदभिभवेद् व्यायाम्॥ 18॥

इसीलिए व्यथा की उपेक्षा कर दुःख को कोई अवसर नहीं देना चाहिए।

संक्षेप में हम असंतोष मानसिक दुःख जैसी भावनाओं की उत्पत्ति के कारणों को रोकने के उपायों में से एक उपाय की चर्चा कर रहे हैं। संक्षेप में व्यथा और दुःख के प्रति अपने व्यवहारों में परिवर्तन के द्वारा दुःख की प्रकृति पर चिंतन कर और व्यवहार में परिवर्तन लाने की संभावनाओं पर निरंतर पहचान द्वारा चिंतन कर, हम उसकी गहनता को कम कर सकते हैं ताकि दुःख के प्रति हम उतने अधिक असहिष्णु न रहें।

यद्यपि मैं सोचता हूँ कि इन चिंतनों को उनके उचित संदर्भ में समझा जाना चाहिए। यहाँ बौद्ध मार्ग का एक विशिष्ट ढाँचा पूर्वानुमानित है जिसके अंदर चार आर्य सत्य और द्वय मार्ग की प्रस्तुति हुई है। संपूर्ण ढाँचे में आधार भूमि, मार्ग, गंतव्य की निष्कर्षतः अवस्था शामिल है। जब तक व्यक्ति संपूर्ण संदर्भ से परिचित नहीं होता तब तक इस दृष्टिकोण को विकृत समझे जाने का खतरा है। इसलिए प्रासंगिकता परमावश्यक है।

इसलिए जब बौद्धग्रंथों का अध्ययन किया जाए तो यह बहुत महत्वपूर्ण है कि जो कुछ भी बताया जाए उसका प्रसंग उचित हो और वह बौद्ध मार्ग के अन्य अंगों से सम्बद्धित हो। इस विषय में मैं तिब्बती परम्परा की सराहना करता हूँ क्योंकि इसमें सदैव अध्ययन तथा अभ्यास का मिला-जुला रूप है।

ध्यान

ध्यान के इस सत्र में हम अपने अस्तित्व के दुःख पर ध्यान केंद्रित कर क्षणिक परिवर्तनशीलता पर सोचें। क्षणिक परिवर्तनशीलता का अर्थ है

वस्तुएँ निरंन्तर गतिमान रहती हैं, कभी स्थिर नहीं होतीं। बुद्ध अभ्यास में इस बात को समझना अत्यंत आवश्यक है कि पदार्थों के विघटन-घटनाओं या वस्तुओं को किसी गौण तत्त्व की आवश्यकता नहीं पड़ती; वह एक बनावट या संरचना के रूप में निहित है। वह यह संकेत देता है कि सभी वस्तुएँ तथा घटनाएँ अन्य तत्त्वों की शक्ति के अधीन हैं। जब हम अपने ही शरीर या स्कंधों पर विचार करते हैं हम यह समझ सकते हैं कि वे अज्ञान तथा भ्रांति जैसे तत्त्वों के प्रभाव के अधीन हैं। जब तक ये स्कंध, अज्ञान तथा भ्रांति के तत्त्वों के प्रभाव में हैं जब तक वहाँ सच्चे सुख या प्रसन्नता का कोई स्थान नहीं। अज्ञान नकारात्मक है और कोई वह वस्तु जो किसी नकारात्मक शक्ति के अधीन है सकारात्मक, अच्छी या वांछनीय नहीं मानी जा सकती।

आंतरिक शत्रु द्वेष जिसकी हम चर्चा कर रहे हैं और मोह या इच्छा अज्ञान के दो अंतरंग हैं। दूसरे शब्दों में अज्ञान प्रधानमंत्री अथवा राष्ट्रपति के समान है। मोह तथा द्वेष दो शक्तिशाली मंत्रियों के समान हैं। तीनों मिलकर चित्त के 'तीन विष' का कार्य करते हैं।

इसलिए हमारे जीवन का अस्तित्व ही इन तीन विषों के प्रभाव में है। यदि हम इन तीन विषैली शक्यिों के प्रभाव में हैं तब निश्चित रूप से हमारा अस्तित्व निश्चित ही असंतोषजनक है। यही दु:ख की साधना है। उस वास्तविकता की जड़ें बहुत ही गहरी हैं और ऐसी नहीं कि जब कोई अपनी शारीरिक पीड़ा के कारण निराश हो रहा हो। मुख्य बात है कि विनाशकारी तत्त्व के समझने हेतु उसकी गहराई में जाया जाए। वही दु:ख पर ध्यान है।

क्षणिक परिवर्तन और उसके हेतुओं पर चिंतन करने फिर संसार तथा उसकी कमियों के विषय में सोचो। ध्यान का वही उचित ढंग है।

प्रश्न : पाश्चात्य मनोवैज्ञानिक चिकित्सा क्रोध की अभिव्यक्ति को बढ़ावा देती है।

आपका उन मनोवैज्ञानिकों और सलाहकारों के क्रोध तथा द्वेष को लेकर जो कथन हैं, उनके बारे में क्या विचार हैं?

उत्तर : यहाँ मेरे विचार से हमारे लिए यह समझना बहुत आवश्यक

है कि कई विभिन्न परिस्थितियाँ होती हैं। कुछ परिस्थितियाँ ऐसी होती हैं कि लोग उनके साथ घटी कुछ घटनाओं के कारण क्रोध तथा मानसिक चोट को अंदर ही अंदर दबाए रखते हैं। उनके विषय में कहे गए अपशब्द आदि के कारण वे अंदर ही अंदर घुटते रहते हैं। इस संदर्भ में तिब्बत में एक कहावत है कि यदि शंख में कोई बीमारी है तो उसे फूँक कर साफ कर दिया जा सकता है। इसलिए एक ऐसी परिस्थिति की कल्पना संभव है जिसमें क्रोध की भावनाओं को अभिव्यक्त कर उसे बाहर निकाल दिया जाए।

यद्यपि साधारणतया क्रोध तथा द्वेष ऐसी भावनाएँ हैं जिनको यदि समय रहते ध्यान नहीं दिया गया या रोका नहीं गया तो वह और अधिक बढ़ जाती है। व्यक्ति जितना अधिक उनके प्रति जागरूक होता है और उन्हें सुधारने का प्रयास करता है और उनके प्रति सचेत रहकर उनकी शक्ति के स्तर को कम करे उतना ही अधिक अच्छा है।

प्रश्न : क्या द्वेष और क्रोध मोह से जुड़े नहीं हैं केवल वस्तुओं के प्रति ही नहीं परंतु आदर्श, सिद्धांत, विशिष्ट रूप से 'मैं' को एक स्थायी रूप में पहचानना?

उत्तर : यह बिल्कुल सच है कि द्वेष तथा क्रोध अंततः एक स्थायी अहं और अहं के एक प्रबल तथा ठोस रूप पर आधारित हैं। साधारण तौर पर जब भी हम आत्म या अहं की पकड़ की बात करते हैं, तो हमें इसके दो रूपों का अंतर समझना चाहिए। अहं की एक परिभाषा है, आत्मकेंद्रित व्यवहार। जहाँ व्यक्ति को केवल अपना स्वार्थ ही प्रमुख जान पड़ता है और वह दूसरों की भावनाओं या आवश्यकताओं के प्रति पूर्ण रूप से अनभिज्ञ रहता है। अहं का एक प्रकार और है एक ठोस, स्थायी 'मैं' के प्रति विश्वास। प्रारंभिक स्तर पर आत्मकेंद्रित व्यवहार के ये दो रूप पूरक होते हैं और एक दूसरे को अधिक मजबूत बनाती है। इसलिए हमारे चित्त में वे दोनों अविच्छद्य रूप से जुड़े रहते हैं।

परंतु यदि कोई अन्य सत्वों के लिए बुद्धत्व की आकांक्षा करता हुआ बोधिचित्त के अभ्यास पर जोर दे और फिर भी परमार्थ की क्षमता को हानि पहुँचाता है। वास्तविकता की परम प्रकृति को पहचानने की

ओर बहुत कम ध्यान देकर, तो यह संभव है कई बार वह व्यक्ति की बौद्धिक क्षमता के परे रह जाता है। ऐसी स्थिति में स्वार्थी विचारों पर आधारित आत्मकेंद्रित व्यवहार, परकल्याण तथा दूसरों के प्रति संवेदनशीलता की भावना कम हो सकती है, पर एक स्थायी आत्म, और स्थायी अहं फिर भी बना रह सकता है। इसी प्रकार यदि कोई शून्यता के अभ्यास पर प्रभाव डालता है परंतु अभ्यास के बोधिचित्त अंग पर ध्यान नहीं देता तो स्थायी, बने रहने वाले, ठोस-आत्मस्वरूप का मोह कम हो सकता है परंतु स्वार्थी तथा आत्म-केंद्री भाव वैसे ही बना रहता है। इस तरह एक ऊँचे स्तर पर इन दोनों प्रकार के अहं में अंतर देखा जा सकता है।

इसी कारण पूर्णता की ओर ले जाने वाले आध्यात्मिक मार्ग में लगे रहते समय यह अत्यंत आवश्यक है कि एक ऐसे मार्ग को स्वीकार किया जाए जहाँ एक अच्छे उपाय तथा प्रज्ञा का, कौशल तथा आंतरिक ज्ञान का मिलन हो।

मेरे विचार से यह प्रश्न इस आधारभूत बौद्ध सिद्धांत से भी मेल खाता है कि चूँकि वास्तविकता की सही पहचान का अज्ञान ही द्वेष और राग की जड़ है। राग और द्वेष का प्रतिकारक और मोह का विशिष्ट प्रतिकारक सीमित जान पड़ते हैं क्योंकि उनका संबंध एक विशिष्ट क्लेष से है। दूसरी ओर अज्ञान और भ्रांति का प्रतिकारक अधिक बोधगम्य है क्योंकि यह न केवल अज्ञान का प्रतिकारक है, परन्तु द्वेष और राग का भी है क्योंकि उनकी जड़ में भी अज्ञान ही है।

साथ ही जब हम बौद्ध धर्म में 'आत्म' की बात करते हैं, इस बात का ध्यान रखना आवश्यक है कि इसके विभिन्न स्तर या रूप हैं। आत्म के कुछ रूप हैं जिनका न केवल परिष्कार किया जाना चाहिए बल्कि उसे सुदृढ़ कर बढ़ावा देना चाहिए। उदाहरण के लिए अन्य सत्वों के कल्याण हेतु बुद्धत्व की प्राप्ति के एक सुदृढ़ निश्चय के लिए हममें एक गहरे आत्मविश्वास की भावना की आवश्यकता होती है, जो प्रतिबद्धता और साहस पर भी आधारित हो। इसके लिए एक शक्तिशाली आत्म की आवश्यकता होती है। जब तक व्यक्ति में इस प्रकार के एक प्रबल आत्म की भावना नहीं होगी तब तक वह इस उद्देश्य को प्राप्त करने हेतु अपने

अन्दर आत्मविश्वास और साहस का विकास नहीं कर पाएगा। इसके अतिरिक्त तथागतगर्भता की प्रकृति हमें अत्यधिक प्रोत्साहित करती है और आत्मविश्वास की भावना पैदा करती है क्योंकि हम यह अनुभव करते हैं कि हमारे अन्दर वह क्षमता है जिससे हम बौद्ध स्वरूप को प्राप्त कर सकते हैं। परन्तु इस आत्म के विभिन्न रूप हैं जो कि एक नित्य, ठोस और अखंडित अस्तित्व के रूप में विश्वास करते हैं जिसे हम आत्म या ''मैं'' नाम से जानते हैं। ऐसा विश्वास है कि यह अस्तित्व अपने आप में एक ठोस और वस्तुनिष्ठ रूप लिए हुए है। आत्म के प्रति ऐसा चिंतन एक गलत धारणा है जिसे दूर करने की आवश्यकता है।

ठीक इसी तरह आत्म के गलत धारणा को लेकर भी अलग-अलग स्तर हैं जैसे कि एक स्थूल रूप, जो कि नित्य बसनेवाला अपरिवर्तनशील रूप। यदि हम और आगे जाएँ तो पाएंगे कि एक अन्य विश्वास के अनुसार आत्म का एक रूप है जिसका आंतरिक यथार्थ है और एक ऐसी स्थिति है जिसका अपना स्वतंत्र अस्तित्व है और जो अपने आप में अनूठी है। यह भी एक भ्रांत धारणा है।

आत्म की एक और प्रबल भावना जो कि भ्रांत है, वह दूसरों के हितों और भावनाओं को अनदेखा करना है। इस प्रकार की आत्म-भावना को भी त्याग कर उसे अपने काबू में लाना है। इसलिए बौद्ध धर्म के संदर्भ में अहं अथवा आत्म जैसे शब्दों का प्रयोग करते समय हमें अत्यधिक संवेदनशील होना चाहिए ताकि हम एक रूढ़ विचार अपना कर यह न कहें कि 'यह उचित है और यह अनुचित'।

प्रश्न : रौद्र देवताओं की क्या भूमिका है ?

उत्तर : यह समझाना सरल नहीं है। मेरे विचार से आधारभूत सिद्धांत यह है कि क्रोध जैसी मानवीय भावनाएँ तात्कालिक कार्य में एक प्रबल शक्ति के समान कार्य करती हैं। मेरे विचार से यही आधारशिला है। अत: रौद्र देवताओं के विचारों के पीछे जो आम सिद्धांत है वह यह कि क्रोध तथा क्लेश जैसी इन भावनात्मक स्थितियों में एक विशिष्ट बात यह है कि उनमें एक प्रकार की शक्ति होती है और जब किसी को उस भावनात्मक परिस्थिति का अनुभव होता है तब एक प्रकार की ऐसी

शक्ति है जो एक व्यक्ति की तात्कालिक कार्य के लिए सहायक होता है। यह बहुत ही प्रबल प्रेरणादायी तथ्य है। इसी तथ्य के संदर्भ में संबंधित अभ्यास रौद्र देवताओं से संबंधित अभ्यास को समझा जा सकता है।

एक और बात जो हमें समझनी है वह है क्लेश के प्रति बौद्ध दृष्टिकोण। जो महायानी नहीं हैं उनके दृष्टिकोण से चूँकि इस संसार में वैयक्तिक विमुक्ति ही परम आदेश है और बोधिचित्त के उत्पन्न करने की कोई बात ही नहीं है इसलिए—शरीर, वचन और चित्त के सभी नकारात्मक कार्यों को त्यागना आवश्यक है। ऐसी कोई अपवाद की परिस्थिति नहीं है जहाँ उन्हें अनुमति प्राप्त हो। इसलिए उन्हें त्यागना आवश्यक है।

महायान सूत्रयान में चूँकि बोधिसत्व अभ्यासी का प्राथमिक उद्देश्य परकल्याण है इसलिए शरीर और वाणी के नकारात्मक कार्यों को लेकर कुछ अपवाद हैं। यद्यपि चित्त के अवगुणों के संबंध में कोई अपवाद हो ही नहीं सकता क्योंकि मानसिक अवगुण लाभकारी हो ही नहीं सकते। बोधिसत्व अभ्यासी के संबंध में यदि परिस्थिति ऐसी हो कि यदि एक बड़े समूह के लिए या कई सत्वों के प्रति हो तब बोधिसत्व को मोह की अनुमति है परन्तु मोह मार्ग का नहीं परंतु मार्ग के पूरक तत्त्व के रूप में और दूसरों की भलाई के हेतु। यद्यपि सूत्रयान में बोधिसत्व को द्वेष या क्रोध उत्पन्न करने की कोई अनुमति नहीं है।

तांत्रिक बौद्ध धर्म में शून्यता की साधना पर अनूठी साधना पद्धतियाँ हैं जो कि दैविक योग पर आश्रित वह साधना पद्धति है जिसके माध्यम से व्यक्ति साधारण अनुभूतियों तथा साधारण आशंकाओं को पूर्ण रूप से मिटाकर एक ऐसे स्वरूप को धारण कर लेता है जो हर रूप से परिशुद्ध तथा दैविक हो। उस आधार पर इस मार्ग पर क्रोध का प्रयोग भी अपवाद के रूप में स्वीकृत है और इसी संदर्भ में रौद्र देवताओं का तांत्रिक साधना में उपयोग किया जाता है।

स्वाभाविक है कि परकल्याण हेतु जब क्रोध की शक्ति का प्रयोग किया जाता है तो उस समय शांत स्वरूप देवताओं के स्थान पर रौद्र देवताओं की कल्पना करना अपेक्षाकृत सरल हो जाता है।

प्रश्न : यदि आत्मा का अस्तित्व नहीं है तो उस चित्तधारा की प्रकृति कैसी होती है जो कई एक-के-बाद-एक पुनर्जन्म लेती है ? ऐसी चेतना किस प्रकार एक स्वतंत्र रूप धारण कर सकती है ?

उत्तर : एक बार फिर यह इस बात पर आश्रित है कि व्यक्ति 'आत्मा' जैसे शब्द को, किस तरह समझता है। यदि कोई 'आत्मा' शब्द को एक व्यक्ति की प्रत्येक पल एक जीवन से दूसरे जीवन की सन्तति के रूप में समझता है तब यह कहा जा सकता है कि बौद्ध दर्शन भी आत्मा की धारणा को स्वीकार करता है; एक प्रकार से चेतना की सन्तति है। उस दृष्टिकोण से आत्मा के होने या न होने का विवाद केवल अर्थ परक स्तर तक ही सीमित है। यद्यपि बौद्ध दर्शन के 'अनात्मवाद' या आत्मा के न होने के सिद्धांतानुसार 'आत्मा' कहलाई जाने वाली शाश्वत अपरिवर्तनशील, बस रहे नित्य, जैसा कुछ नहीं। बौद्ध धर्म में उसे नकारा गया है।

बौद्ध धर्म चेतना की संतति नहीं नकारता। इसी कारण कुछ तिब्बती विद्वान जैसे शाक्य गुड रेंडावा जो यह स्वीकारते हैं कि आत्म या आत्मा जैसा कुछ है, 'खांग्ज़ा कि दाक्'। यद्यपि कुछ विद्वान इसी शब्द 'खांग्ज़ा कि दाक्' आत्म व्यक्ति, निजी आत्मा या अस्मिता को नकारते हैं।

बौद्ध विद्वानों में भी इन धारणाओं को लेकर कि आत्मा की वास्तविक प्रकृति क्या है और वस्तुतः वह क्या वस्तु है जो एक पल से दूसरे पल एक जीवन-काल से दूसरे जीवन काल में निरंतर रहती है, मतभेद हैं। कुछ लोग उसे स्कंधों के अंदर, शरीर और चित्त के संस्कृत रूप में खोजने का प्रयास करते हैं। कुछ, उसकी व्याख्या शरीर तथा चित्त के संस्कृत रूप के आधार पर दिए गए नाम के अनुसार करते हैं आदि-आदि।

महायान परंपरा का एक रूप 'चित्तमात्र' या 'योगचर्या योगाचार' विचारधारा कहलाती है। उस परंपरा की एक शाखानुसार 'आलयविज्ञान' नाम की एक विशिष्ट चेतना संतति है जो कि आधारभूत चेतना की ऐसी स्थापना का कारण है तो उनका यह विश्वास है कि यदि आत्मा नाम की कोई वस्तु है जो एक जीवनकाल से दूसरे जीवनकाल में प्रवाहित चेतना की एक धारा है, तब जब 'मैं' या 'आत्मा' या जिस नाम से भी

जाना जाए नाम में निहित उस सही संदर्भ को खोजने का प्रयास करते हैं तब हमें वह मिलना चाहिए क्योंकि यदि हम उसे ढूँढ़ नहीं पाएँ तब हम शून्यवाद की ओर जा रहे होंगे।

प्रश्न : क्रोध तथा घृणा का सामाजिक परिणाम अल्पायु के लोगों द्वारा नृशंस हत्या है ? क्रोध तथा घृणा की प्रतिक्रिया में समाज की क्या भूमिका है ?

उत्तर : जैसा मैंने कल पत्रकार सम्मेलन में संकेत दिया था कि मैं ऐसा अनुभव करता हूँ कि एक लम्बे अरसे तक कई दशकों तक कुछ आधारभूत जीवन मूल्यों की ओर ध्यान न देकर हमने उनकी उपेक्षा की है और कुछ अन्य कारणों से आज हमारा समाज वर्तमान दशा में पहुँच गया है। अतः तत्काल एक सरल समाधान, ढूँढ़ निकालना बहुत ही कठिन है। इस समस्या के समाधान हेतु हमें विभिन्न दृष्टिकोणों से एक संगठित प्रयास करना होगा। निस्संदेह शिक्षा एक बहुत ही प्रधान कारण है। हम बच्चों को जिस तरह से शिक्षा देते हैं, वह बहुत ही महत्त्वपूर्ण है। मैं यह भी मानता हूँ कि शिक्षक का व्यवहार एक महत्त्वपूर्ण तथ्य है। एक शिक्षक का कर्तव्य केवल जानकारी या ज्ञान देना ही नहीं परंतु उन आदर्शों या सिद्धांतों का एक उदाहरण रखना भी है जिनको सिखाने का हम प्रयास कर रहे हैं। इसलिए बच्चों को जिस ढंग से शिक्षा दी जाए वह बहुत ही महत्त्वपूर्ण है खासकर वयस्कों द्वारा उदाहरण प्रस्तुत करने से इस प्रकार के आदर्श और सिद्धांत बच्चों के लिए अत्यधिक प्रिय हो जाएँगे। निःसंदेह इसमें प्रचार माध्यम भी बहुत कुछ शामिल हैं।

प्रश्न : लोभ के प्रभाव को कम करने के लिए हम क्या कर सकते हैं ?

उत्तर : एक अर्थ में लोभ के बिना पुनर्जन्म नहीं हो सकता। पुनर्जन्म के लिए हमें लोभ की आवश्यकता है। क्रोध के ही समान लोभ भी विभिन्न प्रकार के होते हैं कुछ सकारात्मक तथा कुछ नकारात्मक लोभ कामना का एक रूप है। जो भी हो यह कामना की अति का रूप है जो अत्यधिक अपेक्षा पर आधारित है।

बौद्धाभ्यासियों के लिए लोभ का उचित प्रतिकारक संतोष है। धर्म के अभ्यासियों के लिए कई ऐसे अभ्यास हैं जो लोभ की प्रतिकारक शक्ति का कार्य कर सकते हैं। निर्वाण प्राप्ति के महत्त्व की अनुभूति या दुःख से विमुक्ति, अस्तित्व में निहित असंतोष की प्रकृति इत्यादि। यह विचार किसी व्यक्ति के लिए भी लोभ के प्रतिकार में सहायक होते हैं। परंतु लोभ की तात्कालिक प्रतिक्रिया के लिए एक उपाय लोभ की अति पर, कि वह व्यक्ति को कहाँ पहुँचा देती है, उस पर क्या प्रभाव डालती है, पर चिंतन है। लोभ के कारण कुंठाएँ, निराशा, उधेड़बुन तथा कई समस्याएँ उत्पन्न होती हैं।

लोभ का सामना करते समय एक बात जो विशिष्ट रूप से ध्यान में रखनी चाहिए, वह यह कि यद्यपि इसका जन्म किसी वस्तु को पाने के लिए होता है परंतु उस वस्तु को प्राप्त करने के बाद इसे संतोष नहीं होता। इसलिए यह असीमित होती है जिसके परिणामस्वरूप समस्याएँ जन्म लेती हैं। लोभ के संबंध में एक दिलचस्प चीज यह है कि यद्यपि इसका आंतरिक उद्देश्य संतोष की प्राप्ति है परंतु अपनी मनचाही वस्तु की प्राप्ति के बाद भी व्यक्ति संतुष्ट नहीं होता। दूसरी ओर यदि किसी में प्रबल संतोष की भावना है तो फिर चाहे वस्तु मिले या न मिले व्यक्ति संतुष्ट रहता है।

प्रश्न : ध्यान तथा क्षांति और विनम्रता तथा क्षांति के बीच क्या संबंध है ?

उत्तर : साधारणतया जब कोई किसी अभ्यास में रत रहता है तब ध्यान लगाने की आदत बहुत ही आवश्यक है क्योंकि इसे एक ऐसी मानसिक शक्ति के रूप में परिभाषित किया गया है जो किसी को किसी अवलोकित की जा रही वस्तु पर संपूर्ण ध्यान केंद्रित करने की अनुमति देती है। चाहे वह क्षांति हो या अन्य किसी भी प्रकार का अभ्यास व्यक्ति को उस विशिष्ट अभ्यास के लिए अपने चित्त को उसकी ओर केंद्रित करना आवश्यक है इसलिए ध्यान की आवश्यकता है।

क्षांति तथा विनम्रता के बीच भी एक गहरा संबंध है क्योंकि विनम्रता की उत्पत्ति से मेरा तात्पर्य है कि यद्यपि व्यक्ति में प्रतिकार की

क्षमता है परन्तु व्यक्ति ने ऐसा न करने का निश्चय किया है। यदि व्यक्ति चाहे तो उसमें इतनी क्षमता है कि वह सामना कर सके या आक्रामक व्यवहार अपनाए परन्तु वह जानबूझकर ऐसा न करने का निश्चय करता है। मैं इसी को संच्ची विनम्रता मानता हूँ। यदि किसी मानवीय परिस्थिति के प्रति असहाय स्थिति या असमर्थता की स्थिति हो तब मैं उसे विशुद्ध विनम्रता नहीं मान सकता क्योंकि हार मानने के अतिरिक्त हमारे पास और कोई विकल्प नहीं रह जाता।

इसी तरह सहिष्णुता तथा शान्ति भी विभिन्न प्रकार की हो सकती है। एक तो विशुद्ध होती है जिसमें आत्मानुशासन द्वारा और अधिक सहिष्णुता का निश्चय अपेक्षित है। दूसरी ओर जब कोई इस प्रकार की प्रतिक्रिया व्यवहार में लाने के लिए बाधित किया जाता है, तब वह कुछ अर्थों में दब्बूपन होगा, विनम्रता नहीं। इस तरह यहाँ भी अन्तर है।

साधारणतया शान्ति में आत्मानुशासन की आवश्यकता होती है, ऐसी अनुभूति, कि व्यक्ति चाहता तो आक्रामक व्यवहार अपना सकता था, परन्तु उसने ऐसा न करने का निश्चय किया। ऐसा नहीं था कि उस पर किसी ने शान्ति का व्यवहार थोप दिया हो। चीनियों के प्रति हमारा शान्ति अभ्यास विशुद्ध है प्रश्नात्मक नहीं।

2

दूसरा दिन

शील प्रतिमोक्ष सूत्र में जो कि शील तथा शिक्षा अनुशासन से संबंधित ग्रंथ है, बुद्ध कहते हैं कि हमें ऐसे कर्मों में रत नहीं होना चाहिए जो अकुशल हो, अपितु सदैव ऐसे कर्म करने चाहिए जो कुशल हों। इस प्रकार का जीवन एक अनुशासित चित्त पर आश्रित होना चाहिए। इसलिए हमें अपने चित्त को शांत कर अनुशासन में लाना चाहिए और वह अनुशासन जो कि आंतरिक परिवर्तन लाता है वही वास्तव में बुद्ध के सिद्धांतों या उपदेशों का सार है। इस तरह इससे हमें यह संकेत मिलता है कि व्यक्ति के कार्य कुशल हैं या अकुशल और वह इस बात पर निर्भर करते हैं कि वे कार्य अनुशासित चित्र से उत्पादित हैं या अनुशासनहीन चित्त से।

इसी तरह हम अन्य ग्रंथों में भी इस प्रकार की उक्तियाँ पाते हैं जो इस का संकेतक है कि यदि व्यक्ति का चित्त अनुशासित या नियंत्रण में हो या शांत हो तब उसमें प्रसन्नता तथा सुख की प्राप्ति होगी जबकि यदि व्यक्ति का चित्त अनुशासित और शांत न हो, तब उसमें दु:ख और वेदना उत्पन्न होती है। अंतत: व्यक्ति का चित्त ही निर्धारी तथ्य है।

साधारणतया बाह्य वस्तुओं से किसी के विशिष्ट आध्यात्मिक जीवन का संकेत मिल जाता है, जैसे एक विशिष्ट प्रकार के वस्त्र धारण करना, अपने घर में पूजा की वेदी या मूर्ति का होना, मंत्रोच्चारण पाठ करना इत्यादि-इत्यादि। परंतु यह कार्य या अभ्यास व्यक्ति के धार्मिक

या आध्यात्मिक जीवन की तुलना में गौण हैं क्योंकि यह सारे कार्य उस व्यक्ति द्वारा भी संपादित किए जा सकते हैं जो अपने चित्त में नकारात्मक विचारों को शरण देता है। दूसरी ओर चित्त के सभी सद्‌गुण, मानसिक विशेषताएँ, विशुद्ध धर्म या विशुद्ध आध्यात्मिक गुण है क्योंकि ये सारी आंतरिक मानसिक विशेषताएँ किसी एक क्षण में दुर्भावनाओं या नकारात्मक विचारों के साथ, एक साथ नहीं रह सकतीं।

इसलिए चित्त में आंतरिक अनुशासन लाना या प्रशिक्षित करना ही धार्मिक जीवन का सार है। व्यक्ति एक आध्यात्मिक जीवन-यापन करता है या नहीं वह इस बात पर निर्भर करता है कि व्यक्ति अपने चित्त को काबू में लाने, उसे अनुशासित करने में कितना समर्थ हो पाता है।

जहाँ तक उस आंतरिक परिवर्तन को लाने की वास्तविक प्रक्रिया का संबंध है बौद्ध मार्ग में जो आधारभूत प्रस्ताव है वह है कौशल या उपाय तथा प्रज्ञा का एकीकरण। उदाहरण के लिए हम शांतिदेव द्वारा विरचित ग्रंथ *बोधिचर्यावतार* को लें। इस ग्रंथ के नौवें अध्याय में मार्ग के प्रज्ञा तत्त्व, जो आंतरिक समझ को जन्म देता है की चर्चा हुई है जबकि शेष सारे अध्याय उपाय तत्त्व अर्थात् उस मार्ग पर चलने वाले कौशल तत्त्व की चर्चा करते हैं। इस तरह जब हम महायान पंथ के कौशल तत्त्व या उपाय तत्त्व की चर्चा करते हैं तो मुख्य अभ्यास है प्रेम और करुणा का विकास। प्रेम और करुणा के इन गुणों का सफल विकास करने के लिए व्यक्ति को उन तत्त्वों का सामना करना होगा जो इन गुणों के विकास में बाधक है। इस दृष्टिकोण से बोधिसत्वाभ्यासियों के लिए धैर्य तथा क्षांति का अभ्यास महत्त्वपूर्ण है।

जिस तरह महायान बौद्ध परंपरा के साधारण पंथ पर जिसमें उपाय तथा प्रज्ञा के तत्त्व एक दूसरे के पूरक हैं और पुष्टि करते हैं, यहाँ व्यक्ति के प्रेम तथा करुणा की क्षमता की बढ़ोत्तरी के लिए धैर्य तथा क्षांति की आवश्यकता है। व्यक्ति जैसे-जैसे मार्ग पर आगे बढ़ता जाता है तो एक ओर प्रेम तथा करुणा तथा दूसरी ओर क्षांति तथा धैर्य एक दूसरे के पूरक होकर एक दूसरे की पुष्टि करते हैं।

अगले दो श्लोक इस प्रकार हैं :

दुःखेऽपि नैव चित्तस्य प्रसादं क्षोभयेद् बुधः।
संग्रामो हि यह क्लेशैर्युद्धै च सुलभा व्यथा॥ 19॥

उद सारातिघातान्ये प्रतीच्छन्तो जयन्त्यरीन्।
ते ते विणयिनः शूराः शेषास्तु मृगमारकाः॥ 20॥

बुद्धिमान लोग दुःख से अपने चित्त दूषित नहीं होने देते क्योंकि हम क्लेश निराकरण के युद्ध के मैदान में हैं और युद्ध में दुःख और व्यथा होना स्वाभाविक है। वास्तव में वही वीर योद्धा है जो अनेक कष्ट झेलकर राग-द्वेष आदि क्लेश रूपी शत्रु पर विजय पाता है। दूसरे योद्धाओं की लड़ाई तो मुर्दों को काटने के समान है। वह शत्रु अपने आप मृत्यु के मुँह में जाने वाला है।

जब हम क्षांति और धैर्य के अभ्यास में रत हैं वास्तव में जब घृणा तथा क्रोध से युद्ध करने में लगे हुए हैं। चूँकि यह युद्ध की परिस्थिति है इसलिए व्यक्ति विजयी होने की कोशिश करता है परंतु व्यक्ति को युद्ध में हारने के लिए भी तैयार रहना चाहिए। इसलिए जब व्यक्ति युद्धरत हो तो उसे इस बात को अनदेखा न करना चाहिए कि इस प्रक्रिया में व्यक्ति को कई समस्याओं तथा कष्टों का सामना करना पड़ेगा व्यक्ति में इन कष्टों को झेलते हुए इन समस्याओं को सहन करने की शक्ति होनी चाहिए। इस श्रमसाध्य प्रक्रिया द्वारा जो क्रोध तथा घृणा पर विजय पाता है वही सही अर्थों में महान है। दूसरी ओर वे व्यक्ति जो अन्य मनुष्यों से क्रोध, घृणा तथा प्रबल भावनाओं के कारण लड़ते हैं, चाहे उन्हें युद्ध क्षेत्र में विजय क्यों न मिल जाए वे सही अर्थों में महान नहीं। वे केवल मुर्दों की हत्या कर रहे हैं क्योंकि क्षणभंगुर होने के कारण मनुष्यों की मृत्यु तो ऐसे भी निश्चित ही है। इसलिए वास्तविकता यह है कि वे केवल मुर्दों को मार रहे हैं। वही सच्चे अर्थों में महान है जिसने घृणा तथा क्रोध पर विजय प्राप्त कर ली है।

ऐसा विचार उठ सकता है कि जहाँ यह बात सच है कि हमें घृणा, क्रोध तथा अन्य क्लेशों से जूझना चाहिए। हमारे पास क्या आश्वासन

है कि हम उन पर विजय प्राप्त कर लेंगे? मेरे विचार से यह बहुत महत्त्वपूर्ण चिन्तन है। व्यक्ति को यह आश्वासन मिलना चाहिए कि यदि कोई पूरे उत्साह के साथ क्लेशों का मुकाबला करे तो वह विजय प्राप्त कर सकता है।

यदि हम पर्याप्त रूप से ध्यान दें तो तिब्बती भाषा में 'Nyon Mongs' (न्यों मोंगस)—जिसका शाब्दिक अर्थ है—वह जो चित्त को आंतरिक रूप से प्रभावित करता है—की पहचान करना बहुत सरल है। इस शब्द को बहुधा क्लेश के रूप में अनुवादित किया जाता है। तिब्बती शब्द की व्युत्पत्ति इस अर्थ का परिचायक है कि वे भावनात्मक तथा संज्ञानात्मक घटनाएँ हैं। वे अपने आप ही चित्त को पीड़ित करते हैं, मन की शांति को नष्ट कर और व्यक्ति के मानस को उत्तेजित करते हैं। यदि हम पर्याप्त ध्यान दें तो यह बहुत ही स्पष्ट है कि हम उनकी विनाशकारी प्रकृति को पहचान सकते हैं क्योंकि जब वे उत्पन्न होते हैं तो उनमें हमारी चित्त स्थिरता की प्रत्युत्पन्नमति को नष्ट करने की एक स्वाभाविक प्रवृत्ति होती है। परंतु जिसे खोजना कठिन है, वह यह कि क्या उनके अनुरूप प्रतिकारक के प्रयोग से हम उन पर काबू कर उन्हें आमूल रूप से नष्ट कर सकते हैं या नहीं? यह प्रश्न इस विचार से सीधा संबंध रखता है कि क्या निर्वाण की प्राप्ति या संसार से मुक्ति संभव है? यह एक बहुत ही गंभीर तथा कठिन प्रश्न है।

जहाँ तक बौद्ध धर्म में निहित निर्वाण की धारणा का अर्थात मुक्ति का प्रश्न है हमें इसकी पहली चर्चा बुद्ध द्वारा दिए गए प्रथम उपदेशों के ग्रंथ में देखने को मिलता है जिसमें मुख्य रूप से चार आर्य सत्यों की विवेचना है। परंतु निर्वाण तथा विमुक्ति की विस्तृत व्याख्या का विकास केवल उनके दूसरे तथा तीसरे उपदेशों की समझ के आधार पर ही किया जा सकता है।

तो इस तथ्य को स्वीकारने के लिए कि इन क्लेशों को निर्मूल कर उन्हें अपने चित्त से हटाया जा सकता है, हमारे पास क्या आधार हैं? बौद्ध विचारानुसार इस बात पर विश्वास करने के लिए कि ऐसा संभव है, हमारे पास तीन प्रमुख कारण हैं—एक तो यह कि सभी चित्त व विचार संबंधी क्लेश की बोधगम्यता में विकृति आ जाती है जबकि अन्य प्रतिकारक तत्त्व

जैसे प्रेम, करुणा, अंतर्दृष्टि इत्यादि केवल अविकृत ही नहीं पर वे हमारे विभिन्न अनुभवों तथा वास्तविकता पर भी आधारित हैं।

दूसरे कि इन सभी प्रतिकारक शक्तियों को अभ्यास व शोधन द्वारा सुदृढ़ बनाया जा सकता है। उनकी निरंतर पहचान से उनकी क्षमता की वृद्धि कर उनकी संभावनाओं को असीमित रूप से बढ़ाया जा सकता है। तो दूसरा आधार यह कि जब कोई इन प्रतिकारक शक्ति की क्षमता की वृद्धि कर उन्हें और प्रबल करता है तो साथ ही वह चित्त के क्लेशों के प्रभाव को भी कम करता है।

तीसरा आधार है, कि चित्त की आधार मूल प्रकृति विशुद्ध है। दूसरे शब्दों में, ऐसी मान्यता है कि चित्त की मुख्य प्रकृति प्रभास्वर या बुद्ध प्रकृति है।

इस तरह इन तीन आधारों पर बौद्ध दर्शन यह स्वीकार करता है कि सभी क्लेशों को अंततः अभ्यास तथा साधना द्वारा दूर किया जा सकता है।

इन विचारों में कुछ तो बहुत ही सुस्पष्ट हैं, यदि पर्याप्त ध्यान दें तो वे काफी स्पष्ट हो जाएँगे जबकि कुछ अस्पष्ट या छिपे रह सकते हैं। हालाँकि विश्लेषण तथा जाँच द्वारा परिणाम निकाले जा सकते हैं, इसलिए इन सभी को परीक्षण तथा विश्लेषण द्वारा समझा जा सकता है। उन्हें धर्म ग्रंथों के प्रभुत्व के प्रमाणों को स्वीकार करने की आवश्यकता नहीं रहती।

बुद्ध के शब्दों को कई दुःसह घटनाओं के संदर्भ में भी प्रामाणिक मानने का एक कारण यह है कि कुछ कम छिपी वस्तुओं के संदर्भ में भी उनके उपदेश विश्वसनीय तथा प्रामाणिक हैं। जिज्ञासु की खोज यही होती है कि वह यह पता लगाए कि दुःख से मुक्ति पाना संभव है या नहीं। और जहाँ तक उस विषय का संबंध है, बुद्ध के उपदेश प्रामाणिक तथा विश्वसनीय सिद्ध हुए हैं।

गुणोऽपरश्च दुःखस्य यत्संवेगान्मदच्युतिः।
संसारिषुचकारुण्यंपापाद्भीतिर्जिनेस्पृहा॥ 21॥

दु:ख के और भी अनेक गुण हैं। दु:ख के संवेग से अहंकार दूर होता है, सांसारिक प्राणियों पर करुणा उत्पन्न होती है, पापकर्म से दूर रहने की चेष्टा होती है और पुण्य-कर्म में प्रवृत्ति होती है।

इस पद में शांतिदेव दु:ख पर चिंतन के लाभों की व्याख्या करते हैं। पहले वह यह बता रहे हैं जब हम दु:ख पर चिंतन करते हैं, जब हम अपने अस्तित्व में निहित असंतोष को समझने का प्रयास करते हैं तो स्वाभाविकत: व्यक्ति का दंभ तथा अहंकार कम हो जाता है। साथ ही साथ जब व्यक्ति दु:ख की प्रकृति के प्रति और अपनी वैयक्तिक पीड़ा तथा दु:ख के प्रति संवेदनशील होता है, तब इससे परानुभूति की क्षमता के विकास में भी सहायता मिलती है। परानुभूति की भावना व्यक्ति को दूसरों की भावनाओं तथा दु:खों से जोड़ती है जिससे दूसरों के प्रति करुणा के भाव को अधिक किया जा सके। साथ ही, दु:खों की प्रकृति का अनुभव कर व्यक्ति में दु:खों को जन्म देने वाले अकुशल कर्मों को समाप्त करने का निश्चय और अधिक प्रबल होगा और प्रसन्नता तथा सुख उत्पन्न करने वाले कुशल कर्मों के प्रति उत्साह की भावना अधिक होगी। यही दु:ख पर चिंतन के पुण्य या लाभ हैं।

यद्यपि इन विविध प्रणालियों का कुशल प्रयोग अत्यधिक महत्त्वपूर्ण है, ऐसा न हो कि प्रयोग में अति हो जाए। उदाहरण के लिए, यदि हम अपने आपको अत्यधिक महत्त्वपूर्ण समझें, यदि अपने गुणों या उपलब्धियों के कारण हमारे अंदर अत्यधिक अहंकार हो तब उसका प्रतिकार यह है कि हम दु:खों पर अपनी समस्याओं तथा हमारे अस्तित्व के असंतोष रूप पर विचार करें। यह हमारे अपने संबंध में बहुत अधिक बढ़ाकर सोचने की भावना को कम करने में सहायक होगा और हमें इस धरातल पर बनाए रखेगा।

दूसरी ओर यदि व्यक्ति यह देखता है कि अस्तित्व की असंतोष प्रकृति, दु:ख, वेदना आदि पर चिंतन करने से, व्यक्ति भावाकुल हो जाता है तो अति का खतरा है, जहाँ व्यक्ति पूर्ण रूप से हतोत्साहित, असहाय और निराश हो उठता है। इसका प्रभाव उसके विचारों पर भी पड़ सकता है और वह यह सोच सकता है कि, ''मैं कुछ नहीं कर सकता, मैं किसी

भी योग्य नहीं हूँ।'' वह अति एक अन्य खतरा है। इसलिए ऐसी परिस्थितियों में यह बहुत महत्त्वपूर्ण है कि अपनी उपलब्धियों, अपनी प्रगति, अपने सद्‌गुणों पर चिंतन कर अपने चित्त को ऊँचा उठा सके और उस निराशा तथा हतोत्साहित स्थिति से बाहर आ सके। आवश्यकता है एक कुशल व संतुलित उपाय की।

यह एक बिरवा या पौधा लगाने के समान है। उसकी बहुत प्रारंभिक अवस्था में हमें बहुत ही सावधानी तथा कोमलता बरतनी पड़ती है—बहुत अधिक नमी उसे नष्ट कर देगी, बहुत अधिक सूर्य का प्रकाश भी उसे नष्ट कर देगा। हमें एक ऐसे संतुलित पर्यावरण की आवश्यकता है जहाँ वह पौधा स्वस्थ रूप से बढ़ सके। इसी तरह हम एक स्वस्थ भावनात्मक तथा मनोवैज्ञानिक विकास की खोज में हैं। इसलिए यहाँ भी उसी प्रकार के कौशल व कोमल उपाय की आवश्यकता होती है अन्यथा अति का खतरा है।

ऐसा भी हो सकता है कि कोई बौद्ध ग्रंथ से कोई गद्यांश निकाल कर कहे, ''यह बौद्ध दृष्टिकोण है।'' बौद्ध क्रियाविधियों को शब्दशः लेना मानो एक विशिष्ट क्रियाविधि सार्वभौमिक स्तर पर बिना किसी गुणों के सभी जगह लागू होती हो, भी उचित नहीं और इससे भी बचना चाहिए।

दूसरे शब्दों में धर्म का सही अर्थों में अभ्यास वोल्टेज स्टेबलाइज़र के समान है। जब शक्ति (ऊर्जा) का आधिक्य होता है तो स्टेबलाइज़र का प्रकार्य एक समान तथा निरंतर ऊर्जा देना है।

पित्तादिषु न मे कोपो महादुःखकरेष्वपि।
सचेतनेषु किं कोपस्तेऽपि प्रत्ययकोपितः॥ 22॥

महादुःखदायी चित्त आदि के प्रति (जिनके कारण अनेक व्याधियाँ उत्पन्न होती हैं) मुझे क्रोध नहीं आता, फिर सचेतनों के प्रति ही क्रोध क्यों? वे भी तो प्रत्यय (कारण सामग्री, भूतपूर्व कर्मों के फल) से ही उत्पन्न होते हैं।

अनिष्यमाणमप्येतच्छूलमुत्पद्यते यथा।
अनिष्यमाणोऽपि बलात् क्रोध उत्पद्यते तथा॥23॥

जिस प्रकार बिना चाहे भी (शरीर में) व्याधियाँ उत्पन्न होती हैं, उसी प्रकार बिना चाहे ही हमारा क्रोध भी उत्पन्न हो जाता है।

कुप्यामीति न संचित्य कुप्यति स्वच्छेया जनः।
उत्पत्स्य इत्यभिप्रेत्य क्रोध उत्पद्यते न च॥24॥

(वैसे ही) क्रोध करूँगा, ऐसा विचार कर मनुष्य स्वेच्छा से क्रोध नहीं करता और न तो उत्पन्न होऊँगा यह अभिप्राय रखकर क्रोध ही उत्पन्न होता है।

22वें श्लोक में शांतिदेव किसी परिस्थिति की जटिल वास्तविकता की समझ पर आधारित क्षांति या धैर्य के विकास की क्रिया-विधि को प्रस्तुत करते हैं। यहाँ व्यक्ति के मन में ऐसी भावना उत्पन्न हो सकती है कि चूँकि आक्रमणकर्ता ने मुझे यह चोट या दुःख पहुँचायी है इसलिए मेरा अधैर्य पूर्णतया न्यायोचित है। उस व्यक्ति के प्रति मेरा क्रोध या घृणा की भावना पूर्ण रूप से उचित है।

इस संदर्भ में शांतिदेव कहते हैं कि यदि हम ध्यानपूर्वक इसका परीक्षण करें तो पाएँगे कि हमें पीड़ा तथा दुःख, चोट तथा हानि की भावनाओं को पहुँचाने वाले तत्त्वों में सचेतन तथा अचेतन दोनों ही तत्त्व हैं। फिर ऐसा क्यों है कि हम खास कर केवल सचेतन तत्त्व जैसे व्यक्तियों को ही उसका उत्तरदायी ठहराते हैं, अचेतन तत्त्वों जैसे उसे जन्म देने वाली परिस्थितियों आदि को नहीं। उदाहरणार्थ हम अपने रोग को दोषी नहीं ठहराते। यद्यपि रोग से हमें पीड़ा उत्पन्न होती है।

हम यह तर्क दे सकते हैं कि यह बिलकुल अलग है क्योंकि रोग जैसे अचेतन तत्त्वों में हमें चोट पहुँचाने की कोई इच्छा नहीं होती, यह जानबूझकर नहीं किया जाता। साथ ही, रोग तथा ये तत्त्व बिना किसी सोच के उत्पन्न होते हैं, उनके अपने पास कोई विकल्प नहीं होता।

इस संबंध में शांतिदेव का उत्तर है कि यदि ऐसा है तब यदि कोई हमें चोट भी पहुँचाए तो वह चोट उस व्यक्ति के बस में नहीं क्योंकि वह व्यक्ति भी अन्य नकारात्मक तत्त्वों जैसे भ्रांति, दुर्भावना आदि से बाध्य किया जाता है। यदि हम और गहराई में जाएँ तो पाएँगे कि ये नकारात्मक भावनाएँ जैसे दुर्भावना, घृणा भी कई तत्त्वों का परिणाम है और ऐसी कई परिस्थितियों का सामूहिक रूप है जिनकी उत्पत्ति में कोई विकल्प नहीं या जो जानबूझकर नहीं उत्पन्न होतीं।

25वें तथा 26वें श्लोक में वे पूर्व कही गई बातों का संक्षेपीकरण इस प्रकार करते हैं :

ये केचिदपराधाश्च पापानि विविधानि च।
सर्वं तत्प्रत्यय बलात् स्वतन्त्रं तु न विधते॥ 25॥

जितने भी अपराध तथा अनेक प्रकार के पाप हैं, वे सभी अपने अपने कारण सामग्री के बल से ही उत्पन्न होते हैं। स्वतंत्र रूप से इनका प्रादुर्भाव नहीं होता।

न च प्रत्यय सामग्र्या जनयामीति चेतना।
नचापिजनितस्यास्तिजनितोऽस्मीतिचेतना॥ 26॥

कारण सामग्री में यह बोध नहीं होता है कि मैं उत्पन्न कर रहा हूँ और न तो उत्पन्न कार्य को ही यह बोध होता है कि मैं उत्पन्न किया जा रहा हूँ।

फिर हमें एक शृंखला दिखाई देती है, अंतर्बंधता, एक तत्त्व दूसरे तत्त्व को आगे ले जाता है। किसी का अपना एक स्वतंत्र स्थान नहीं, किसी का अपने पर बस नहीं।

यत्प्रधानं किलाभीष्टं यत्तदात्मेति कल्पितम्।
तदेव हि भवामीति न संचिन्त्योपजायते॥ 27॥

जिन लोगों के मत में प्रधान (त्रिगुणोवेता प्रकृति सांख्यमत समस्त एक स्वतंत्र पदार्थ) है तथा जिनके मत में आत्मा (पुरुष न्याय, वैशेषिकादि सम्मत एक स्वतंत्र पदार्थ) कल्पित है, वे भी उत्पन्न होता हूँ यह सोचकर उत्पन्न नहीं होते।

27वें श्लोक शांतिदेव के समय के कुछ अबौद्ध मतों को विशेष रूप से सांख्य तथा वैयक्तिक को नकारा गया है। यहाँ पर यह विचार रखा गया है कि कोई भी वस्तु या घटना अपनी इच्छानुसार उत्पन्न नहीं होती; किसी का अपना स्वतंत्र अस्तित्व नहीं होता। अतः इस पर पूर्ण रूप से तर्क करने के लिए, हमें अन्य विरोधी सिद्धांतों के विचार या स्थिति की अपेक्षा करनी होगी जिनके अनुसार कुछ स्थितियाँ ऐसी हैं जिनका स्वतंत्र अस्तित्व है। मैंने दो उदाहरण यहाँ दिए हैं, पहला सांख्य सिद्धांत की प्रकृति का है, जिसमें किसी प्रधान तत्त्व पर विश्वास है। प्रकृति को ऐसा आधारभूत तत्त्व माना गया है जिससे भी उपादानों का जन्म होता है मानो यह आधारभूत तत्त्व सभी उपादानों का सार हो। वह वस्तु अपने आप में स्वतंत्र, चिर तथा पूर्ण है। नैयायिक मत वाले यह मानते हैं कि इसी तरह 'आत्मा' का स्थान स्वतंत्र, पूर्ण तथा चिर है।

अनुत्पन्नं हि तन्नास्तिक इच्छेद्भवितुं तदा।
विषयव्यावृतत्वाच्च निरोद्धुमपि नेहते॥ 28॥

वह (आत्मा) स्वतः अनुत्पन्न तो है नहीं; फिर होने की इच्छा किसे होगी? (और यदि यह मान भी लिया जाए कि किसी प्रकार वह प्रवृत्त हुआ भी तो) विषय में प्रवृत्त हो जाने के कारण, वह निवृत्त होने की भी इच्छा नहीं करेगा।

नित्यो ह्यचेतनश्चात्मा व्योमवत्स्फुत्मक्रियः।
प्रत्यान्तरसङ्गेऽपि निर्विकारस्य का क्रिया॥ 29॥

(वैशेषिकों के अनुसार) आत्मा अचेतन, नित्य आकाशवत् (विभु)

तथा क्रिया-रहित है अन्य कारण सामग्रियों से युक्त होने पर भी उस निर्विकार में क्रिया कैसी?

यःपूर्ववत्क्रियाकालेक्रियायास्तेनकिंकृतम्।
तस्य क्रियेति सम्बन्धे कतरत्तन्नि बन्धनम्॥ 30॥

(जो आत्मा) क्रिया के समय पूर्ववत् (निष्क्रिय) अवस्थित है, क्रिया से उसको क्या लेना देना? (क्या करना) उसकी क्रिया (ऐसा कहने पर) क्रिया से उसका संबंध है (यह ज्ञान होता है), वह संबंध कौन सा है?

27, 28, 29 वें श्लोक में शांतिदेव बौद्ध सिद्धांत के सार्वभौम हेतुओं के आधार पर इन विचारों का खंडन करते हैं। सार्वभौम हेतुओं का सिद्धांत यह प्रश्न करता है कि यदि आधारभूत वस्तु या आत्मा नित्य तथा चिर है तो उसके संसार के उपादानों से संबंध को किस तरह समझा जा सकता है? उनका संबंध किस प्रकार का है? संसार के उपादानों और चिर वस्तु आत्मा के संबंध के आधार पर सोपाधिकता को कैसे समझा जा सकता है? क्योंकि यदि आत्मा या आधारभूत वस्तु नित्य, अपरिवर्तनशील और चिर है तो वह कैसे उत्पन्न कर सकती है? किसी वस्तु में कुछ उत्पन्न करने की क्षमता के लिए यह आवश्यक है कि उसे स्वयं भी एक उत्पन्न हुई वस्तु होना चाहिए, उसे भी अन्य कारणों तथा तत्त्वों पर निर्भर होना चाहिए। यदि वह स्वयं उत्पन्न नहीं तो वह अन्य किसी वस्तु को उत्पन्न नहीं कर सकती। इस तरह सार्वभौम हेतु के सिद्धांत के आधार पर इन दोनों विचारों का खंडन किया जाता है।

31वें श्लोक में शांतिदेव सारांश प्रस्तुत करते हैं:

एवं परवशं सर्वं यद्वशं सोऽपि चावशः।
निर्माणवदचेष्टेषु भावेष्वेवं क्व कुप्यते॥ 31॥

इस भाँति सभी (आध्यात्मिक तथा बाह्य वस्तु) कारण सामग्री के

आधीन है और कारण-सामग्री स्वतः भी अन्य कारण-सामग्रियों के आधीन है, अवश है। माया-निर्मित वस्तुओं की भाँति चेष्टा रहित भावों के प्रति क्रोध कहाँ तक उचित है?

यहाँ पर माया की सादृश्यता के प्रयोग के पीछे कारण यह है कि माया एक जादूगर द्वारा निर्मित एक भ्रांति के समान है, उसकी अपनी कोई वस्तुनिष्ठ स्थिति नहीं और वह पूर्णतया जादूगर की सनक पर निर्भर करती है। इसलिए उसका अपना कोई वस्तुनिष्ठ तथा स्वतंत्र अस्तित्व नहीं होता; वह एक अन्य तत्त्व से निर्मित है। इसी तरह अन्य सभी उपादान चूँकि वे अन्य तत्त्वों से शासित होते हैं और अन्य हेतुओं व कारणों के कारण अस्तित्व पाते हैं, अपना स्वतंत्र अस्तित्व नहीं रखते। उस दृष्टिकोण से वे माया समान है। अतः ऐसी परिस्थितियों पर क्रोध करना जो स्वतंत्र उत्पादित नहीं होती और इस दृष्टिकोण से असहाय होती हैं, अनुचित है।

बौद्ध धर्म के सार्वभौम कार्य कारण को समझना महत्त्वपूर्ण है और जब हम कार्य कारण सिद्धांत की बात करते हैं तो हमें इस सिद्धांत की आधारभूत बातों को समझना होगा। असंग के ग्रंथ 'शिक्षासमुच्चय' में बौद्ध कारण हेतु सिद्धांत की तीन मुख्य विशेषताएँ हैं : सबसे प्रथम तो यह कि वहाँ किसी सृजनकर्ता के अस्तित्व को स्वीकार नहीं किया जाता। वहाँ किसी रूपरेखा का विचार नहीं होता क्योंकि बुद्ध स्वयं कहते हैं कि हेतुओं के कारण ही, प्रभाव परिणाम की उत्पत्ति हुई। अतः इसे मात्र कारण-कार्य के संदर्भ में ही समझना होगा क्योंकि वहाँ पर एक स्वतंत्र स्वायत्त सृजनकर्ता की स्वीकृति नहीं है। सूत्र में कहा गया है, ''चूँकि इसकी उत्पत्ति हुई, उसका परिणाम यह हुआ।'' दूसरी विशेषता यह है कि जो भी कारण है उसकी प्रकृति अनित्य होगी, वह अस्थायी होगा। यदि वह स्थायी है तो वह नित्य तथा अपरिवर्तनशील होगा, तब उसमें कुछ उत्पन्न करने की क्षमता नहीं होगी। तीसरी विशेषता है कि अनुकूलता का होना आवश्यक है, कारण तथा कार्य के बीच एक अनूठा संबंध है। बौद्ध धर्म के कारण कार्य सिद्धांत की ये तीन विशेषताएँ हैं।

जब कारण कार्य सिद्धांत को और जाँचा जाता है तो बौद्ध सिद्धांत

दो प्रकार के प्रमुख कारणों को समझाता है। एक तो वास्तविक कारण के नाम से जाना जाता है जो कि प्रभाव के रूप में परिवर्तित हो जाता है। इसके अलावा अन्य सहयोगी कारण हैं जो कि प्रधान नहीं क्योंकि वे ऐसे तत्व हैं जो कि उन वस्तुओं को प्रभाव के रूप में परिवर्तित करते हैं। उदाहरण के तौर पर अंकुरण के लिए जल, तापमान, खाद इत्यादि सहयोगी कारण होते हैं। हमें एक बात ध्यान में रखनी चाहिए कि जिस परिप्रेक्ष्य को हमने यहाँ ग्रहण किया है वह महायान बौद्ध सिद्धांत, विशेषकर प्रासंगिक माध्यमिक के दृष्टिकोण को लेकर है। जहाँ तक शून्यता का दार्शनिक सिद्धांत का स्थान है शांतिदेव और चन्द्रकीर्ति के दृष्टिकोण में समानता है। दोनों ही नागार्जुन के शून्यता सिद्धांत की दार्शनिक व्याख्या को लेकर एकमत हैं, वे प्रासंगिक माध्यमिक के दार्शनिक सिद्धांत का भी समर्थन करते हैं। इसलिए जब हम वस्तुओं अथवा घटनाओं को माया अथवा भूत के समान मानते हैं तो हमें उस परिप्रेक्ष्य के अनुसार समझना चाहिए।

यहाँ एक प्रश्न उठाया गया है कि यदि सब वस्तुएँ तथा घटनाएँ माया के समान हैं, तब हम उन्हें क्यों इतनी गंभीरता से लें ? शांतिदेव यह कहकर समझाते हैं कि यद्यपि सभी वस्तुएँ तथा घटनाएँ माया के समान हैं तब वह जो इस अनुभव से होकर गुज़र रहा है, भी एक माया के समान है। दु:ख और पीड़ा के हमारे अपने अनुभव हालाँकि कितने ही माया समान क्यों न हों, सच है। हमारे अपने अनुभव उनकी वास्तविकता की पुष्टि करते हैं—इस बात को हम नकार नहीं सकते। हम समस्याओं का सामना करते हैं, दु:ख झेलते हैं, और जहाँ तक वास्तविकता या उनके अस्तित्व के ठोस रूप का संबंध है, हमारे अनुभवों से स्पष्ट हो जाता है। इसलिए स्वप्न के ही समान, एक माया के समान कर्ता दु:ख और पीड़ा को झेल सकता है जो स्वयं भी एक माया के समान है। हालाँकि हम उस यथार्थ के प्रभाव को अनदेखा नहीं कर सकते, क्योंकि हमारा अनुभव उसके अस्तित्व की पुष्टि करता है। तो यह सत्य है कि वस्तुओं के माया रूप को पहचान कर समस्या का सामना बेहतर रूप से किया जा सकता है।

अगले श्लोक में शांतिदेव कहते हैं :

वारणापि न युक्तैवं कः किं वारयतीति चेत्।
युक्ता प्रतीत्यता यस्माद्दुःखस्योपरतिर्मता॥ 32॥

इस प्रकार (निश्चेष्ट भावों की) निवृत्ति भी युक्तिसंगत नहीं है, क्योंकि (निश्चेष्टावस्था में) कौन किसकी निवृत्ति करता है? (यदि पूर्वपक्ष से यह प्रश्न उठाया जाए तो यह ठीक नहीं) निवृत्ति उचित है क्योंकि मायामय पदार्थों का प्रादुर्भाव कारण सामग्रियों (प्रत्ययों) से है और उनके (प्रत्ययों) नाश द्वारा सभी दुःखों की (आत्यन्तिक) निवृत्ति ही अभिमत है।

तस्मादमित्रं मित्रं वादृष्ट्वाप्यन्यायकारिणम्।
ईदृशाः प्रत्यया अस्येत्येव मत्वा सुखी भवेत्॥ 33॥

इस प्रकार अपकार करने वाला, चाहे मित्र हो अथवा शत्रु हो, उसे देखकर यह सोचना चाहिए कि इसके पीछे ऐसा ही प्रत्यय (कारण सामग्री) है और ऐसा मानकर सुखी रहना चाहिए।

जहाँ तक शून्यता के दर्शन का संबंध है, शांतिदेव रचित ग्रंथ के नवम् परिच्छेद में इसका विस्तृत वर्णन मिलता है।

साधना

हम कुछ भावना सहित साधना करें। एक ऐसे दृश्य की कल्पना करें जिसमें आपका कोई परिचित या आपका कोई संबंधी या बहुत ही प्रिय व्यक्ति अत्यधिक उग्र परिस्थिति में क्रोधित हो रहा हो या फिर कुछ और हो रहा हो। इस व्यक्ति में अत्यधिक क्रोध अथवा घृणा के सभी लक्षण दिखाई देते हैं, वह अपनी चित्त की स्थिरता खो बैठता है, बहुत

ही नकारात्मक विचारों को जन्म देता है, स्वयं को हानि तक पहुँचाने की स्थिति में पहुँच जाता है और तोड़-फोड़ प्रारंभ कर देता है। उसके बाद अत्यधिक घृणा तथा क्रोध के तात्कालिक प्रभाव पर चिंतन करो। मैं यह भावना दूसरों को लेकर करने हेतु इसलिए कह रहा हूँ क्योंकि स्वयं के दुर्गुणों को देखने की बजाय दूसरों के दुर्गणों को देखना सरल होता है। इसलिए ऐसी भावना करो और उस व्यक्ति में एक शारीरिक परिवर्तन भी होता हुआ देखो। वह व्यक्ति जिससे तुम्हारा अंतरंग संबंध है, तुम्हें अच्छा लगता है, और पहले जिसको देखकर तुम सुख का अनुभव करते थे, अब वह एक कुरूप सा व्यक्ति शारीरिक रूप से भी कुरूप दिखाई देगा। यह एक विश्लेषणात्मक साधना है, इसलिए इस साधना तथा भावना को एक विश्लेषणात्मक ढंग से अपनी कल्पना शक्ति के आधार पर कुछ मिनटों तक करो। इसके अंत में अपने वैयक्तिक अनुभव से इसका संबंध जोड़ो। तत्पश्चात् ऐसा संकल्प करो—"मैं अपने आपको अत्यधिक क्रोध या घृणा के प्रभाव में कभी न आने दूँगा। क्योंकि यदि मैंने ऐसा किया तो मैं भी उसी परिस्थिति में रहूँगा और सभी परिणामों को भुगतूँगा—अपने चित्त की शांति, स्थिरता, ऐसा कुरूप हो जाऊँगा, इत्यादि।" ऐसा निर्णय कर ध्यानवस्थ इस परिणाम पर रहकर स्थिर रहो।

पहला भाग विश्लेषणात्मक साधना है और दूसरा स्तर ध्यानावस्था की साधना का है।

यदि कोई अपनी 'कल्पना शक्ति' का प्रयोग कर ऐसी भावना कर सके, तो वह बहुत ही शक्तिशाली तथा प्रभावकारी साधन हो सकता है। उदाहरण के लिए हमारे दैनिक जीवन में हमारा कई घटनाओं तथा दृश्यों से सामना होता है जैसे टेलीविजन, चलचित्र इत्यादि जिसमें हिंसा तथा सेक्स के कई दृश्य होते हैं परंतु जिन्हें हम अति के प्रभाव के दृष्टिकोण से देख सकते हैं और उन दृश्यों से पूर्ण रूप से प्रभावित होने के स्थान पर एक ऐसे सूचक के रूप में ले सकते हैं जो हमें शिक्षा दे सके। एक तिब्बती कदम्पा गुरु पोटोवा ने कहा कि उस साधक के लिए हर अनुभव एक उपदेश के समान होता है जिसमें आंतरिक स्थिरता तथा अनुभव है, प्रत्येक घटना, प्रत्येक अनुभव से साक्षात्कार एक प्रकार की शिक्षा प्राप्ति

का अनुभव है। मेरे विचार से यह बिलकुल सच है।

प्रश्न : परम पावन, परमार्थ चिंतन के और हमारे आंतरिक गुणों के परिष्कार की आवश्यकता में हम किस प्रकार संतुलन कर सकते हैं?

उत्तर : क्रम के आधार पर व्यक्ति को अपने आंतरिक विकास की ओर पहले ध्यान देना चाहिए। लामरिम के तीन क्षमताओं के पीछे भी यही सिद्धांत है। इस प्रस्ताव में व्यक्ति की प्रेरणा के आधार पर अभ्यास को तीन मार्गों में वर्गीकृत किया है। प्रत्येक का संबंध व्यक्ति के आत्मिक विकास के एक विशिष्ट स्तर से है। बुद्ध ने स्वयं भी जब अपना सार्वजनिक उपदेश दिया तो बोधिचित्त की शिक्षा से नहीं, बल्कि चार आर्य सत्य की शिक्षा से प्रारंभ किया। जब उन्होंने अपना द्वितीय उपदेश दिया अथवा द्वितीय धर्म-चक्र प्रवर्तन किया तब उन्होंने विस्तृत रूप से बोधिचित्त की व्याख्या की। हालाँकि जहाँ तक द्वितीय तथा तृतीय उपदेशों का संबंध है। ऐसा लगता है कि क्रमबद्ध घटनाओं का कोई ऐतिहासिक विवरण नहीं है; संभव है कि ये उपदेश कुछ गिने चुने श्रोताओं को दिए गए हों।

यदि तु स्वेच्छया सिद्धिः सर्वेषामेव देहिनाम्।
नभवेत्कस्यचिद्दुःखंनदुःखंकश्चिदिच्छति॥ 34॥

यदि कारणवश होकर स्वेच्छा या स्वतंत्र रूप से ऐसा व्यवहार होता हो तो कोई भी प्राणी दुःखी नहीं हो सकता क्योंकि कोई भी प्राणी स्वेच्छा से दुःखी होना नहीं चाहेगा।

प्रमादादात्मनात्मानं बाधन्ते कण्टकादिभिः।
भक्तच्छेदादिभिःकोपाद्दुरापस्व्यादिलिप्सया॥ 35॥

34 वें तथा 35 वें श्लोक में शांतिदेव आक्रमणकर्ता या अपराधी के प्रति उपेक्षा भाव अपनाकर हानि या चोट का सामना करने के लिए एक

अन्य उपाय सुझा रहे हैं। उनका सुझाव है कि यदि हम सावधानी से, परिस्थिति का परीक्षण करें तो पाएँगे कि इनमें से कई कर्म अज्ञानवश या असावधानी के कारण या अन्य व्यक्ति के पास किसी विकल्प के न होने की स्थिति में किए जाते हैं। अगर ऐसा न होता तो कभी-कभी लोग स्वयं को चोट या हानि क्यों पहुँचाते? अत: यदि हम इस परिस्थिति का ध्यान से परीक्षण करें तो पाएँगे कि कई हानिकारक कार्य विद्वेषपूर्ण उद्देश्य से नहीं अपितु असावधानी या संवेदनशीलता के अभाव से किए जाते हैं।

उद्बन्धनप्रपातैश्च विषापथ्यादिभक्षणै:।
निघ्नन्ति केचिदात्मानपुण्याचरणेन च॥ 36॥

यदैवं क्लेशवश्यत्वाद् घ्नन्त्यात्मानमपि प्रियम्।
तदैषां परकायेषषु परिहार: कथं भवेत्॥ 37॥

संक्षेप में यह निष्कर्ष निकलता है कि यदि क्लेशवश इस प्रकार अपना भी जब अंत (हत्या) करता है तो दूसरों के शरीर को हानि पहुँचाना स्वाभाविक है।

37वें श्लोक में शांतिदेव कहते हैं कि यदि यह संभव है कि अज्ञानता या असावधानी के कारण कि लोग स्वयं को हानि पहुँचाएँ तो यह भी संभव है कि उसी तरह व्यक्ति दूसरों को भी चोट पहुँचा सकता है। यदि वह स्वयं को चोट पहुँचाने के लिए तैयार है, तो यह बहुत संभव है तो दूसरों को भी चोट पहुँचा सकते हैं।

क्लेशोन्मत्तीकृतेष्वेषु प्रवृत्तेष्वात्मघातने।
न केवलं दया नास्ति क्रोध उत्पद्यते कथम्॥ 38॥

क्लेशवश आत्महत्या जैसा आचरण दिखाई देता है तो हमें वैसा करने वाले प्राणियों पर दया करनी चाहिए न कि क्रोध।

इस तरह 38वें श्लोक में उनका सुझाव है कि जो व्यक्ति स्वयं को तथा दूसरों को हानि पहुँचाते हैं उनके प्रति क्रोध या घृणा का व्यवहार न रखना, उचित व्यवहार यह होगा कि हम उनके प्रति करुणा भाव रखें।

यदि स्वभावो बालानां परोपद्रवकारिता।
तेषु कोपो न युक्तो मे यथाग्नौ दहनात्मके॥ 39॥

जैसे आग का धर्म या स्वभाव ही जलाना है तो ताप के कारण आग पर क्रोधित न होना ही उचित है, वैसे ही दूसरों को हानि पहुँचाना या उपद्रव करना अज्ञानियों का स्वभाव है, अतः उन पर गुस्सा उत्पन्न होना अनुचित है।

अथ दोषोऽयमागन्तुः सत्वाः प्रकृतिपेशलाः।
तथाप्ययुक्तस्तत्कोपः कटुधूमे यथाम्बरे॥ 40॥

ऐसा जब अज्ञानी मनुष्यों का स्वभाव है, तो क्रोधादि आकस्मिक दोष होने पर भी उस प्राणी पर दोषारोपण करना अनुचित है जैसे आकाश में धुएँ या बादल के छा जाने पर आकाश के प्रति, जो अपने आपमें निर्मल है, क्रोधित होना अनुचित है।

अगले श्लोकों में उन उपायों के विषय में बताते हैं जो साधारणतया हमारे मन में क्रोध की भावना उत्पन्न करते हैं। उनका कथन है कि यदि दूसरों को चोट पहुँचाना किसी व्यक्ति के चरित्र का अलग न होने वाला अंग है, तो इसे उस व्यक्ति के विरुद्ध रखने में कोई अर्थ नहीं है क्योंकि दूसरों को चोट पहुँचाना उस व्यक्ति की प्रकृति में है। दूसरी ओर यदि वह उसकी स्वभावगत प्रकृति में नहीं है बल्कि एक प्रकार की परिस्थितिजन्य घटना है तब वह व्यक्ति, जो क्रोध के आवेश में है वह परिस्थितियों के प्रभाव में है। अतः उसे उत्तरदायी नहीं ठहराया जा सकता।

पहली स्थिति में यह अग्नि को दोषी ठहराने के समान है क्योंकि

वह ज्वलनशील है; उसकी ज्वलनशीलता की क्षमता अग्नि की स्वभावगत प्रकृति है। अग्नि को उसकी उस स्वभावजन्य प्रकृति के लिए दोषी ठहराना निरर्थक है। दूसरी स्थिति में यदि हम अन्य सत्वों को लेकर कुढ़ते हैं जो परिस्थितियों के प्रभाव में हैं, तब वह वैसा ही है कि कोई आकाश में छाने वाले बादलों को देखकर कुढ़ता है। आकाश की स्वभावगत प्रकृति में आच्छादन नहीं है अपितु परिस्थितियों के कारण कभी-कभी आकाश बादलों से ढँक जाता है।

मुख्यं दण्डादिकं हित्वा प्रेरके यदि कुप्यते।
द्वेषेण प्रेरितः सोऽपि द्वेषे द्वेषोऽस्तु मे वरम्॥ 41॥

यदि आप यह तर्क देते हैं कि दूसरों को कष्ट पहुँचाना पृथग्जनों का स्वभाव होता है या आकस्मिक कारण से वह मुझे पीड़ित करता है, अतः उस पर मुझे क्रोध आता है, ऐसा सोचना भी निरर्थक है— नहीं तो फिर जब कोई आप को डंडे से पीटता है तो उस समय वास्तविक पीड़ा वह डंडा, शास्त्र आदि पहुँचाता है उस पर क्यों क्रोध नहीं आता, यदि इसलिए कि डंडा का प्रयोग करने वाला वह पुरुष है। अतः उस पर क्रोध आता है, जबकि उस पुरुष को डंडा मारने के लिए प्रेरित करने वाला, द्वेष है, इसलिए द्वेष पर क्रोध करना चाहिए न कि उस पुरुष पर।

41वें श्लोक में शांतिदेव किसी विशिष्ट कर्म या चोट की उत्पत्ति के तात्कालिक और लंबे समय के तत्त्वों का परीक्षण कर एक अन्य उपाय की ओर इंगित कर रहे हैं जिससे व्यक्ति क्रोध के उत्पन्न होने को रोकने तथा क्रोध की प्रबलता को कम करने का प्रयास कर सकता है। एक ओर, हम यह कह सकते हैं कि चूँकि यह तत्त्व ही है जो सीधा चोट पहुँचाता है इसलिए हमारे मन में इसके प्रति क्रोध होना चाहिए। उदाहरण के लिए यदि कोई किसी को डंडे से पीटे तब वस्तुतः व्यक्ति का क्रोध डंडे के प्रति होना चाहिए। दूसरी ओर हम यह कह सकते हैं कि कार्य को जन्म देने का मूल कारण या यह आधार है जिसके प्रति हमारे मन में क्रोध होना चाहिए। इस स्थिति में चूँकि कार्य का प्रेरणा

तत्त्व घृणा है इसलिए हमें अपना क्रोध उस घृणा के प्रति निर्दिष्ट करना चाहिए तो फिर ऐसा क्यों है कि हम खास तौर से और अप्रत्यक्ष आधारभूत कारण जो कि घृणा है, के बीच के मध्य को चुनते हैं ? हम इन दोनों को परे रखकर मध्यवर्ती जो कि व्यक्ति है, को चुनते हैं और अपना सारा क्रोध उस व्यक्ति पर उतारते हैं। शांतिदेव इस तर्क के आधार को लेकर प्रश्न उठाते हैं।

मयापि पूर्वं सत्वानामीदृश्येव व्यथा कृता।
तस्मान्मे युक्तमेवैतत्सत्त्वोपद्रवकारिणः ॥ 42 ॥

इस प्रकार परीक्षा करके हमें इस निष्कर्ष पर आना चाहिए कि ये जो अनेक प्रकार की दुःख-पीड़ाएँ हम पर प्रभाव जमा रही हैं, उन सबकी जड़ 'स्वयं' हैं, क्योंकि अनेक पूर्व जन्मों में हमने असंख्य प्राणियों को कष्ट पहुँचाया है जिसके फलस्वरूप इस समय दूसरों से हमारे ऊपर दुःखदायक कार्य प्रतिफलित हो रहे हैं।

फिर 42वें श्लोक में वह इसी कार्य पर जो कि किसी अन्य के द्वारा हमें लकड़ी से मारना है, एक अन्य प्रकार के चिंतन की संभावना पर चर्चा कर रहे हैं। वह इंगित करते हैं कि चूँकि हमारे समस्त दुःख के अनुभव अतीत में हमारे ही द्वारा किए गए अकुशल कर्मों का परिणाम है यदि उस चोट के लिए किसी को उत्तरदायी ठहराया जाए, तब व्यक्ति को स्वयं को भी शामिल कर लेना चाहिए क्योंकि अंततः अपने स्वयं के कर्मों के कारण ही व्यक्ति उस हानि या चोट का अनुभव कर रहा है।

तच्छस्त्रं मम कायश्च द्वयं दुःखस्य कारणम्।
तेन शस्त्रं मया कायो गृहीतः कुत्र कुप्यते ॥ 43 ॥

(अपकारी द्वारा गृहीत)वह शस्त्र और मेरा शरीर दोनों ही दुःख के कारण हैं। उसने शस्त्र धारण किया है और मैंने शरीर। इसमें क्रोध कहाँ किया जाए?

43वें श्लोक में शांतिदेव यह स्पष्ट करते हैं कि विभिन्न तत्त्वों तथा परिस्थितियों के कारण ही हम दु:ख का अनुभव करते हैं। उदाहरण के लिए उस परिस्थिति में जब कोई शस्त्र से हम पर वार करता है तो इसमें सहायक तत्त्व हैं, वह शस्त्र जो दूसरों के द्वारा प्रयोग में लाया जाता है और हमारा अपना शरीर क्योंकि हमारे शरीर की प्रकृति ही इस प्रकार की है कि इसमें चोट की पीड़ा का अनुभव करने की क्षमता है। प्रथम तो शरीर के आधार के बिना दु:ख या चोट की उत्पत्ति ही नहीं होती। अत: चूँकि दूसरे के शस्त्र और मेरे अपने शरीर के सहयोग से इस चोट या हानि का जन्म होता है, इसलिए मैं केवल उस दूसरे तत्त्व को ही अपने क्रोध का निशाना क्यों बनाता हूँ ?

उदाहरणार्थ यदि तुम जानते हो कि कोई पीठ पीछे तुम्हारी बुराई कर रहा है और यदि तुम्हारी प्रतिक्रिया क्रोध या दु:ख है, तब तुम स्वयं ही अपने चित्त की शांति नष्ट करते हो। उस नकारात्मकता के प्रति व्यक्ति का दु:ख उसकी अपनी सृष्टि है। एक तिब्बती कहावत है कि ऐसी बातों को यूँ लेना चाहिए मानो वह व्यक्ति के कानों के पीछे हो। दूसरे शब्दों में हों, ऐसी बातों को अनसुनी कर देना चाहिए। यदि व्यक्ति ऐसा करने में संभव हो जाए तो वह स्वयं को दु:ख तथा वेदना की भावना से सुरक्षित रख पाएगा। इससे स्पष्ट होता है बहुत हद तक व्यक्ति पीड़ा का अनुभव करता है या नहीं यह इस बात पर निर्भर करता है कि किसी भी परिस्थिति के प्रति उसकी प्रतिक्रिया क्या है। व्यक्ति के अति भावुक होकर बातों को बहुत गंभीरतापूर्वक लेने के कारण ही अंतर आ जाता है।

इस तरह एक बौद्ध दृष्टिकोण से हम कभी-कभी छोटी-छोटी वस्तुओं के प्रति भी अत्यधिक भावुक हो उठते हैं। पर उसी समय अन्य बड़ी समस्याओं के प्रति जिनका प्रभाव एक दीर्घकाल के लिए हो सकता है, हम इतने अधिक भावुक नहीं होते। इसी कारण हम देखते हैं कि धार्मिक ग्रंथों में हम जैसे साधारण लोगों को बाल्यसम या बचकाना कहा जाता है। 'छिबा' या बाल्यसम शब्द का प्रयोग विभिन्न रूपों में होता है कभी कभी इसका प्रयोग आयु के संदर्भ में होता है जो कि एक परंपरागत प्रयोग है, कभी-कभी यह आर्य लोगों या विशिष्ट लोगों के

स्थान पर साधारण सत्वों के लिए प्रयुक्त होते हैं। कभी-कभी यह उन लोगों के संदर्भ में प्रयुक्त होता है जिनकी रुचि मात्र जीवन के कार्य कलाप से है और जिनके मन में भविष्य के कार्य-कलापों के या मृत्यु के बाद आगामी जीवन के कार्य-कलापों के प्रति कोई रुचि नहीं है। इसलिए हमारी बाल्य प्रवृति छोटी-छोटी बातों को बहुत गंभीरता से लेकर रुष्ट होने की है, जबकि जब हमारे सामने ऐसी परिस्थितियाँ आती हैं जिनके दीर्घकालीन परिणाम होते हैं तब हम वस्तुओं को गंभीरतापूर्वक नहीं लेते।

गण्डोऽयं प्रतिमाकारो गृहीतो घट्टनासहः।
तृष्णान्धेन मया तत्र व्यथायां कुत्र कुप्यते॥ 44॥

सभी प्रकार के दुःख को सहन करने में सक्षम मैंने यह शरीर रूपी फोड़ा (पक्ष) धारण किया है। (सुख प्राप्ति की) तृष्णा ने मुझे (स्वयं) अंधा कर दिया है। अतः उसमें (शरीर रूपी फोड़े में) कष्ट होने पर मैं किस पर क्रोध करूँ।

44वें श्लोक में शांतिदेव यह स्पष्ट करते हैं कि जब तक हम स्कंधों से चित्त तथा शरीर के संस्कारों से जुड़े हैं, तब तक हममें पीड़ा, दुःख तथा असंतोष की प्रवृत्ति रहेगी।

दुःखंनेच्छामिदुःखस्यहेतुमिच्छामिबालिशः।
स्वापराधागते दुःखे कस्मादन्यत्र कुप्यते॥

मैं ऐसा मूर्ख हूँ कि दुःख तो मुझे अभीप्सित नहीं है, किंतु दुःख के कारण भूत (शरीरादि) पदार्थ में मेरी आसक्ति है। अतः अपने ही अपराध से उत्पन्न दुःख में मैं दूसरे पर क्रोध क्यों करूँ।

असिपत्रवतनं यद्वद्यथा नारकपक्षिणः।
मत्कर्मजनिता एव तथेदं कुत्र कुप्यते॥ 46॥

जिस प्रकार असि-पत्रों वाले वन तथा नरक के पक्षी मेरे ही कर्म से उत्पन्न होते हैं, उसी भाँति यह (संसार रूपी) दु:ख भी (मेरे ही कार्य से) जीवित हैं, फिर मैं क्रोध कहाँ करूँ ?

45वें श्लोक में शांतिदेव कहते हैं कि हमारी बचकाना प्रवृत्ति हमारी पीड़ा तथा दु:खों का कारण है, जिसके कारण हम छोटी-छोटी बातों को बहुत अधिक गंभीरता से लेते हैं और उन बातों की उपेक्षा कर देते हैं जिनके दीर्घकालीन प्रभाव तथा परिणाम होते हैं। अत: चूँकि हमारी पीड़ा व दु:ख हमारे ही कर्मों का परिणाम है, तब अपनी पीड़ा तथा दु:ख के लिए हम से दूसरों को उत्तरदायी और जिम्मेवार क्यों ठहराएँ।

उदाहरण के लिए गल्फ युद्ध के बाद कई लोगों ने सदाम हुसैन को युद्ध का जिम्मेवार ठहराया। इसी तथ्य के आधार पर मैंने कई अवसरों पर कहा, ''यह उचित नहीं है।'' ऐसी परिस्थितियों में सदाम हुसैन के प्रति मेरी पूरी सहानुभूति है। इसमें कोई संदेह नहीं कि वह तानाशाह है और निस्संदेह वहाँ और भी कई बुरी वस्तुएँ हैं परंतु बगैर सैनिक उपकरणों के सेना कोई नुकसान नहीं पहुँचा सकतीं। यह सारे शस्त्र उन्होंने नहीं बनाए। जब हम इस तरह से सोचते हैं तब उसमें कई देशों का हाथ है। परंतु हमारी साधारण प्रवृत्ति एक बाहरी तत्त्व पर दोषारोपण की है। यह प्रवृत्ति किसी एक कारण को केंद्र बनाकर स्वयं को उत्तरदायित्व से मुक्त करने की है।

मेरे विचार में यह मानसिक अभ्यास, उसे एक पूर्ण दृष्टि से देखकर यह जानना है कि इसमें कई घटनाएँ जुड़ी हुई हैं। जो कुछ भी हुआ उसके लिए हम मात्र एक व्यक्ति को जिम्मेदार नहीं ठहरा सकते। एक और उदाहरण के रूप में हम चीन के साथ हमारी समस्या को लें।

इस दु:खद परिस्थिति को लाने में तिब्बत का भी हाथ है। संभवत: हमारी पीढ़ी का कुछ योगदान हो परंतु निश्चित रूप से पिछली पीढ़ी का और कुछ पीढ़ियों का रहा है। इसलिए चीन पर पूर्ण रूप से दोष लगाना उचित नहीं।

इसलिए किसी भी दी गई परिस्थितियों का यदि हम बिना किसी

पूर्वाग्रह के ईमानदारी से और एक व्यापक संदर्भ में परीक्षण करें तो देखेंगे कि इन घटनाओं की उत्पत्ति के लिए हम भी उत्तरदायी हैं।

मत्कर्मचोदिता एव जाता मय्यप कारिणः।
येन यास्यन्ति नरकान्मयै वामी हता ननु॥ 46॥

मेरे ही (पूर्वकृत) कर्मों से प्रेरित होकर तो मेरे अपकारी उत्पन्न हुए हैं। उन्हें ही (मेरे अपकारी होने के कारण) नरक जाना पड़ेगा। इस भाँति तो वास्तव में मैंने ही उनकी हत्या की।

47वें श्लोक में शांतिदेव यह संकेत देते हैं कि हमारे अतीत के अकुशल कर्मों के कारण ही अन्य व्यक्तियों ने हमारा अहित किया है या चोट पहुँचाई है। एक तरह से हम दूसरे व्यक्ति के पतन के उत्तरदायी हैं क्योंकि हम अपने कर्मों के द्वारा दूसरे व्यक्ति को जो आक्रमणकारी है या अपराध करता है को अकुशल कर्म करने के लिए बाध्य करते हैं।

एतानाश्रित्य मे पापं क्षीयते क्षमतो बहु।
मामाश्रित्य तु यान्त्येते नरकान् दीर्घवेदनान्॥ 48॥

इनका आश्रय लेकर इनको क्षमा करते-करते मेरे बहुत से पाप नष्ट हो जाते हैं, किंतु मेरा आश्रय करके ये नरक की दीर्घ वेदना में जा रहे हैं।

अहमेवापकार्येषां ममैते चोपकारिणः।
कस्माद्विपर्ययं कृत्वा खलचेतः प्रकुप्यसि॥ 49॥

वास्तव में ये तो मेरे उपकारी हैं, मैं ही इनका अपकारी हूँ। हे दुष्ट चित्त ! उलटे इन पर ही क्रोध क्यों करते हो ?

48वें तथा 49वें श्लोक में शांतिदेव बता रहे हैं कि जैसे पहले कहा जा चुका है कि एक दृष्टिकोण से जब दूसरा व्यक्ति चोट पहुँचाता है

या अहित करता है तब वह अकुशल कर्मों का संचय कर रहा है। हालांकि यदि कोई ध्यान से देखे तो देखते हैं कि उसी कार्य के कारण व्यक्ति को क्षांति तथा सहिष्णुता के अभ्यास का अवसर मिलता है। इस तरह हमारे दृष्टिकोण से यह हमारे लिए उपयुक्त अवसर है इसलिए हमें उस व्यक्ति के प्रति कृतज्ञ होना चाहिए जो हमें ऐसा अवसर दे रहा है। इस तरह देखने पर हम पाते हैं कि इस घटना ने दूसरे को अकुशल कर्मों का एक और अवसर दिया है और हमें भी क्षांति की उत्पत्ति का अवसर दिया है। क्षांति के अभ्यास द्वारा कुशल कर्मों के संचय का अवसर दिया है। इसलिए जब दूसरा हमें चोट पहुँचा रहा है तब हम इस अवसर के प्रति कृतज्ञ होने की बजाय प्रतिक्रिया के रूप में क्रोधित क्यों हों ?

भवेन्ममाशयगुणो न यामि नरकान्यदि।
एषामत्र किमायातं यद्यात्मा रक्षितो मया॥ 50॥

यदि मैं नरक नहीं जाता हूँ तो यह मेरा अपना पुण्यकर्म है। यदि मैंने अपने आपको बचा लिया तो इससे इनका (अपराधियों) का क्या बिगड़ा ?

यहाँ दो प्रश्न उठाए जाते हैं, पहला तो यह कि चूँकि दूसरा मुझे चोट पहुँचा रहा है तब मैं उसे अकुशल कर्मों के संचय का अवसर दे रहा हूँ इसका मतलब क्या यह हुआ कि मैं भी अकुशल कर्मों का संचय करूँगा क्योंकि मैं दूसरे व्यक्ति के पतन का कारण बनता हूँ। शांतिदेव इसका उत्तर 'नहीं' से देते हैं क्योंकि यदि उस अवसर की प्रतिक्रिया सकारात्मक रूप से हो ताकि क्षांति व सहिष्णुता का अभ्यास हो सके तब अकुशल कर्मों के संचय के स्थान पर व्यक्ति सद्गुणों या कुशल कर्मों का संचय करेगा।

दूसरा यह कि मुझे चोट पहुँचाकर चूँकि दूसरा व्यक्ति मुझे क्षांति तथा सहनशीलता का अवसर देकर कुशल कर्मों के संचय का अवसर दे रहा है इसका क्या यह अर्थ हुआ कि जिस व्यक्ति ने मुझे चोट पहुँचाई है वह भी कुशल कर्मों का संचय करेगा ? इसके उत्तर में शांतिदेव का

कथन है कि ऐसा नहीं होता क्योंकि परिणाम क्षांति तथा सहनशीलता के अभ्यास का कुशल कर्म केवल उसी व्यक्ति के चित्त में प्रतिस्थापित होना है जो क्षांति तथा सहनशीलता का अभ्यास कर रहा है।

अथ प्रत्यपकारी स्यां नथाप्येते न रक्षिता:।
हीयते चापि मे चर्या तस्मान्नष्टास्तपस्विन: ॥ 51 ॥

यदि मैं इनके प्रति अपकार भी करता हूँ, तब भी इनकी रक्षा नहीं होती, बल्कि मेरी चर्या (आराधना) भी नष्ट होती है, फलत: इन बेचारों का नाश ही है।

शांतिदेव कहते हैं कि यदि हम चोट पहुँचाने वाले व्यक्ति का प्रतिकारात्मक उत्तर देते हैं जो ऐसे कार्य से दूसरों को कोई लाभ नहीं पहुँचता बल्कि वह उनके लिए अहितकारी होता है वह हमारे लिए विनाशात्मक होता है। ऐसा इसलिए कि यदि कोई बोधिचित्ताभ्यासी हैं तो वह व्यक्ति के बोधिचित्ताभ्यास को भ्रष्ट कर देगा। साथ ही साथ, वह व्यक्ति के क्षांति तथा धैर्य से अर्जित सहनशक्ति को भी दुर्बल कर देगा। इसलिए वह अन्य तथा स्वयं भी दोनों ही के लिए विनाशकारी है।

जब कोई अन्य हमारा अहित करता है या चोट पहुँचाता है यदि क्षांति तथा सहनशक्ति के विकास की सहायता से यदि हमारी प्रतिक्रिया सकारात्मक न होकर बदले की हुई, तो एक अवांछनीय परिस्थिति उत्पन्न हो जाएगी। यदि कोई प्रतिकार करता है तो दूसरा उसे स्वीकार नहीं करेगा और वह भी उसका जवाब देगा, तब पहला व्यक्ति भी वैसा ही करेगा और यह चलता रहेगा। यदि ऐसा एक जाति स्तर पर होता है तो यह क्रिया एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी तक चलती रहेगी। परिणाम यह है कि दोनों ही पक्ष दुख झेलेंगे। इस जीवन का उद्देश्य ही खराब हो जाएगा। उदाहरणार्थ शरणार्थी शिविरों में बाल्यावस्था से ही दौर्मनस्य भावना पनपती है और कुछ लोगों के विचार से प्रबल दौर्मनस्य की भावना राष्ट्र के हित में अच्छी होती है। मेरे विचार से यह बहुत ही नकारात्मक तथा अल्पकालीन दृष्टिकोण है।

हमारी पूवचर्चा में हमने इस विषय पर चर्चा की कि दूसरों द्वारा पहुँचाई गई शारीरिक चोट या हानि का उचित उत्तर हमें किस प्रकार देना चाहिए और किस तरह उनके प्रति क्षांति की भावना रखनी चाहिए। हालांकि यह बहुत आवश्यक है कि हम शांतिदेव की उक्ति के पालन का गलत अर्थ न लगाएँ और यह न सोचें कि शांतिदेव यह बता रहे हैं कि हम हार मान जाएँ और हमारे विरुद्ध जो भी हो रहा है उसे दब्बूपन से स्वीकार कर लें।

यह बात बोधि अभ्यास के दान तथा उदारशील भावना के लिए महत्त्वपूर्ण है। हम जानते हैं कि बोधिसत्व के आदर्श के अनुसार व्यक्ति की उदारशील भावना इतनी विकसित होनी चाहिए यदि बोधिसत्व को अपने शरीर का त्याग करने का भी अवसर आए तो वह ऐसा कर पाए। हालांकि इस संदर्भ में समय के प्रति संवेदनशील होना अत्यधिक महत्त्वपूर्ण है। समय से पूर्व व्यक्ति को ऐसे अभ्यास नहीं करने चाहिए जब तक कि व्यक्ति इसके लिए उपयुक्त शक्ति, अनुभूति आदि का विकास न कर चुका हो। इसलिए उचित समय के प्रति संवेदनशील होना बहुत महत्त्वपूर्ण है। मैंने पहले जो संकेत दिया था उससे यह संबंधित है कि एक छोटे उद्देश्य के लिए व्यक्ति को अधिक क्षमता वाली वस्तु का त्याग नहीं करना चाहिए। अगर ऐसा है तो शांतिदेव बोधिचित्ताभ्यासियों को यह सलाह नहीं दे सकते कि दूसरा जो चोट पहुँचाए चाहे मानसिक हो या शारीरिक उसे दब्बूपन से स्वीकार कर लिया जाए। बल्कि यदि आवश्यकता पड़े तो उत्तम और विवेकपूर्ण उपाय यही होगा कि वहाँ से मीलों दूर भाग जाएँ।

अपनी प्राप्ति के स्तर के अनुकूल समय के औचित्य के प्रति संवेदनशीलता बनाए रखने के लिए मैं इसलिए कह रहा हूँ कि हम महान साधकों की कहानियाँ धर्म ग्रंथों में देखते हैं जिन्होंने इस प्रकार का त्याग किया। उदाहरण के लिए जातक कथाओं में आए बुद्ध के एक जन्म में उन्होंने उन पर किए गए सभी शारीरिक चोटों को स्वीकार किया जैसे कि उन के शरीर को काटना, अंग-भंग करना इत्यादि। उन्होंने ऐसी परिस्थितियों का परिहार्य नहीं, परंतु सामना किया। इस प्रकार का अभ्यास उन साधकों द्वारा किया जा सकता है जो साधना के उच्च स्तर

पर पहुँच चुके हैं और जानते हैं कि ऐसा करने पर उन्हें उच्चतर उद्देश्य की प्राप्ति हो सकती है।

यह सारे उदाहरण इस बात का संकेत करते हैं कि किसी भी अभ्यासी के लिए परिस्थितियों को समझना, दीर्घ तथा अल्पकालीन प्रभाव और परिस्थिति की अच्छाइयों व बुराइयों को समझना अत्यंत आवश्यक है।

साधारणतया विनय जो धर्म ग्रंथ का वह वर्ग है जो नीति तथा भिक्षु अनुशासन से संबंध रखती है और महायान की तुलना में नीति के प्रश्नों के संबंध में कम उदार है वहाँ भी बुद्ध ने विभिन्न कर्मों के विषय में शिक्षा दी जिन्हें सार्वभौमिक स्तर पर अवैध माना जाता है या प्रतिषिद्ध है और फिर नई परिस्थितियों में उस असाधारण स्थिति की ओर संकेत किया जहाँ वही कार्य मान्य है। इसी तरह उन्होंने विभिन्न सार्वभौमिक सकारात्मक निर्देशों की शिक्षा दी जिनका उनके शिष्यों द्वारा पालन करना अपेक्षित था। फिर कुछ विशिष्ट परिस्थितियों में वे कुछ लोगों को या कुछ निश्चित अवधि के लिए उन्हें उन निर्देशों का पालन न करने की छूट देते हैं। इस तरह विनय के दृष्टिकोण से भी जहाँ इन परिस्थितियों को लेकर लचीलापन है, हम संदर्भ तथा परिस्थितियों के प्रति संवेदनशीलता पाते हैं।

हम मुख्य रूप से दूसरों के द्वारा हम पर पहुँचाई गई शारीरिक चोट या अहित, उनसे किस तरह से निपटा जाए उसके प्रति हमारी क्या उचित प्रतिक्रिया हो आदि की चर्चा कर चुके हैं। अगले श्लोक में शांतिदेव उन चोटों की बात कर रहे हैं जो बाह्य नहीं बल्कि दूसरों द्वारा हमारा अपमान करने या हमें हीन बनाने से होता है।

मनो हन्तुममूर्तत्वान्न शक्यं केन चित् क्वचित्।
शरीराभिनिवेशात्तु कायदुःखेन बाध्यते॥ 52॥

अमूर्त होने के कारण कोई भी कहीं भी मन को मार नहीं सकता (प्रत्यक्ष रूप से आघात नहीं पहुँचा सकता) मन तो शरीर में आसक्ति के कारण उसी (शरीर की) पीड़ा से पीड़ित होता है।

न्यक्कारः परुषं वाक्यमयशश्चेत्ययं गणः।
कायं न बाधते तेन चेतः कस्मात्प्रकुप्यसि॥ 53॥

धिक्कार, कठोर वचन, अपयश आदि का समूह शरीर को पीड़ा नहीं पहुँचा सकते। हे चित्त फिर क्यों क्रोध करते हो ?

52वें तथा 53वें श्लोक में शांतिदेव हमें स्मरण दिलाते हैं कि चित्त भौतिक नहीं है और वे शरीर तथा चित्त के संबंध के विषय में चर्चा करते हैं। और वे उन व्यक्तियों के संदर्भ में यह प्रश्न करते हैं जो हमारा अनादर करते हैं या कटुवचनों द्वारा हमारा अपमान करते हैं आदि-आदि। चूँकि वह व्यक्ति हमें सीधे तौर पर कोई शारीरिक चोट नहीं पहुँचाता जब चित्त में उस व्यक्ति के प्रति क्रोध की भावना क्यों हो ?

मध्यप्रसादो योऽन्येषां स मां किं भक्षयिष्यति।
इह जन्मान्तरे वापि येनासौ मेऽनभीप्सितः॥ 54॥

मेरे प्रति जो दूसरों की अप्रसन्नता है, क्या मुझे इस जन्म में अथवा जन्मान्तर में ही खा जाएगी। जिस कारण यह मुझे अभिमत नहीं है ?

यहाँ शांतिदेव इस तर्क का पूर्वानुमान लगा लेते हैं कि यद्यपि यह ठीक है कि अपमान तथा निरादर इत्यादि सीधे हमें बाहरी चोट या हानि, नहीं पहुँचाते, लेकिन इनसे दूसरों के हृदय में हमारे लिए अरुचि उत्पन्न होती है इसलिए मेरे मन में उनके प्रति क्रोध की भावना होनी चाहिए। शांतिदेव यह तर्क देते हैं यह पर्याप्त आधार नहीं है कि हमारे मन में इन कार्यों के प्रति क्रोध की भावना उत्पन्न हो क्योंकि दूसरे यदि मुझे पसंद तभी करें तो यह मेरे इस जीवन या आगामी जीवनों के लिए पतन का कारण बन सकती है। इसके विपरीत यदि कोई दूसरों द्वारा किए गए व्यवहार के प्रति नकारात्मक व्यवहार करे जैसे क्रोध तो इसका परिणाम होगा कि व्यक्ति स्वयं को खो बैठेगा क्योंकि ऐसी प्रतिक्रिया व्यक्ति के चित्त की शांति तथा स्थिरता को नष्ट कर देगी। अंततः हमारा ही नुकसान होगा।

यहाँ भी शांतिदेव यह सुझाव नहीं दे रहे हैं कि हम दूसरों के सुझावों की उपेक्षा करें या हम दूसरों के विचारों की ओर ध्यान न दें। हमें शांतिदेव के संबंध में यह भ्रांत धारणा नहीं बनानी चाहिए कि वह ऐसा सुझाव दे रहे हैं। इसके विपरीत बोधिचर्यावतार में ही हम एक श्लोक पाते हैं जिसमें शांतिदेव ने कहा है कि जब भी कोई किसी नए इलाके या शहर में जाता है, तो व्यक्ति को उस विशिष्ट जाति के रहन-सहन के बारे में सीख लेना चाहिए और इस तरह रहना सीखना चाहिए जिससे उन्हें ठेस न पहुँचे। ऐसा इसलिए क्योंकि यदि व्यक्ति दूसरों को सुखी कर सके तो वह दूसरों की सेवा करने की अच्छी स्थिति में है। वह बोधिसत्व का एक सिद्धांत है। इसलिए यहाँ हमें गलत अर्थ नहीं लगाना चाहिए कि शांतिदेव कह रहे हैं कि हमें दूसरों की पूर्ण उपेक्षा करनी चाहिए। जो कहा जा रहा है वह एक संदर्भ में है; वह यह है कि दूसरों द्वारा अपमानित किए जाने पर या निरादर किए जाने के विरोध में क्रोधित होने पर इस तरह से सोचना चाहिए। परंतु यह एक बहुत ही विशिष्ट संदर्भ है।

लाभान्तरायकरित्वाद् यसौ मेऽनभीप्सितः।
नङ्क्ष्यतीहैव मे लाभः पापं तु स्यास्यति ध्रुवम्॥ 55॥

यदि यह लाभ में बाधक होने के कारण मुझे अभिमत नहीं है तो मेरे लाभ तो यहीं (इसी जगत में) नष्ट हो जाएँगे, किंतु पाप तो निश्चित रूप (भोग-काल तक) से स्थित रहेगा।

इस श्लोक में शांतिदेव एक और तर्क का पूर्वानुमान लगाते हैं वह यह तर्क किसी के द्वारा अपमानित किए जाने, हमारी बुराई किए जाने पर या हमें हीन बनाए जाने पर हमारी प्रतिक्रिया उचित है क्योंकि यह कार्य हमारे सांसारिक लाभ सफलता तथा उपलब्धि के मार्ग को बाधित करेंगे; यदि हम इन कार्यों का प्रतिकार न करें तो वह हमारी सांसारिक उपलब्धियों को बाधित करेगा। शांतिदेव के अनुसार किसी को अपमान या हमें तुच्छ मानने के प्रतिकार के लिए यह पर्याप्त आधार नहीं है। क्योंकि दूसरों द्वारा

किए गए ऐसे कार्य हमारी सांसारिक उपलब्धियों को बाधित करता है तो इन सांसारिक उपलब्धियों को तो हमें यहीं छोड़ जाना है। वह मात्र इसी जीवन के लिए लाभकारी है, परंतु जब व्यक्ति की मृत्यु होती है तो उसे सब कुछ छोड़ना पड़ता है इसलिए वे इतने अधिक महत्त्वपूर्ण नहीं हैं। दूसरों के अपमान या अन्य दुर्व्यवहार के उत्तर में नकारात्मक व्यवहार करे तो इन कर्मों द्वारा उत्पादित अकुशल कर्मों से हम न केवल इस जीवन में बल्कि आगामी जीवनों में भी हमारे साथ जुड़े रहेंगे।

वरमद्यैव मे मृत्युनं मिथ्याजीवितं चिरम्।
यस्माच्चिरमपि स्थित्वा मृत्युदुःखं तदेव मे॥ 56॥

बहुत दिनों तक मिथ्या ही जीवित रहने से, मेरी मृत्यु आज ही हो जाना श्रेष्ठ है, क्योंकि बहुत काल तक जीवित रहकर भी मुझे वही मृत्यु दुःख भोगना ही है।

स्वप्ने वर्षशतं सौख्यं भुक्त्वा यश्च विबुध्यते।
मुहूर्त्तमपरो यश्च सुखी भूत्वा विबुध्यते॥ 57॥

ननु निवर्तते सौख्यं द्वयोरपि विबुद्धयोः।
सैवोपमा मृत्युकाले चिरजीव्यल्पजीविनोः॥ 58॥

स्वप्न में शत वर्षों तक सुख भोगकर जो जगता है और जो मुहूर्त्त मात्र ही सुख भोगकर जगता है, जग जाने पर दोनों का ही सुख समाप्त हो जाता है। मृत्यु काल में यही उपमा चिरंजीवी तथा अल्पजीवी दोनों ही के लिए समान है।

लब्ध्वापिचबहूल्लाभान्चिरंभुक्त्वासुखान्यपि।
रिक्त हस्तश्च नग्नश्च या स्यामिं मुषितो यथा॥ 59॥

बहुत लाभ पाकर भी और बहुत दिनों तक सुख भोगकर भी मुझे

(संसार से) लूट लिए गए की भाँति नग्न तथा रिक्त हस्त ही जाना है।

इन श्लोकों में शांतिदेव संकेत करते हैं कि उस व्यक्ति की तुलना में जो गलत ढंग से अर्जित भौतिक उपलब्धियों के आधार पर एक लंबा जीवन जी रहे हैं आज की मृत्यु भली है क्योंकि एक न एक दिन हमारी मृत्यु हो जाएगी और व्यक्ति द्वारा संचित वस्तुएँ पीछे छूट जाएँगी। यद्यपि बुरे कार्यों द्वारा अर्जित अकुशल परिणाम भविष्य में एक लंबे समय तक उसके साथ रहेंगे। जो भी हो गलत या बुरे जीवन-यापन से उत्पन्न एक सफल भौतिक जीवन से जो अस्थायी सुख प्राप्त होता है मृत्यु के समय व्यक्ति ने फिर कितना ही लंबा जीवन क्यों न व्यतीत किए हो वह स्मृति के लिए एक निरर्थक वस्तु बन जाती है, अतीत के एक स्वप्न के समान। ऐसे व्यक्ति तथा एक क्षण का सुखी जीवन जी रहे व्यक्ति के बीच कोई गुणात्मक अंतर नहीं है; एक बार वे अतीत के ही गए तो वे मात्र स्वप्न समान है।

पापक्षयंचपुण्यंचलाभाज्जीवनंकरोमिचेत्।
पुण्यक्षयश्च पापं च लाभार्थं क्रुध्यतो ननु॥ 60॥

यदि मैं (यह सोचूँ कि) जीवन को लाभ पुण्यार्जन तथा पापक्षय करना है, जो वास्तव में मैं, (इसके विपरीत) लाभ के लिए क्रोध करता हुआ पुण्य-क्षय तथा पाप-अर्जन ही करता हूँ।

यदर्थमेव जीवामि तदेव यदि नश्यति।
किं तेन जीवितेनापि केबलाशुभकारिणा॥ 61॥

जिस (पुण्य) के लिए मैं जीवित हूँ, यदि वही नष्ट हो रहा हो, तो उस जीवन के रहने से ही क्या लाभ ? जिससे केवल अशुभ की ही उत्पत्ति होती है।

यहाँ शांतिदेव एक और प्रतिक्रिया का पूर्वानुमान करते हुए कहते

हैं कि, किसी को ऐसा भी लग सकता है, निश्चय ही सांसारिक सम्पदा की प्राप्ति से मैं न केवल और आराम से रह सकता हूँ परंतु मुझे और कई कुशल कर्मों का संचय कर और उससे पुण्य कमाने का अवसर भी प्राप्त हो सकता है। इस कारण यदि कोई मेरे संपत्ति अर्जन के मार्ग में आए तो मेरी आक्रामक प्रतिक्रिया न्यायोचित है। शांतिदेव के अनुसार यह भी इस प्रकार के व्यवहार के लिए पर्याप्त आधार नहीं है क्योंकि जब कोई कुशल कर्मों जो कि सांसारिक संपदा से प्राप्त कुशल कर्मों में रत रहने से पुण्य संचय के अवसर की तुलना उन अकुशल कर्मों से करता है जो कि उस व्यक्ति के प्रतिकार स्वरूप अपमान इत्यादि से किए जाते हैं तो वहाँ कोई तुलना ही नहीं है। अकुशल कार्य व्यक्ति द्वारा किए जा रहे उन थोड़े से कुशल कर्मों की तुलना में कहीं अधिक भारी है। इसलिए किसी ऐसे व्यक्ति के प्रति जो अपमान कर रहा हो या हमें हीन साबित करने की कोशिश कर रहा हो का प्रतिकार करना अनुचित है।

अवर्णवादिनी द्वेषः सत्त्वान् माशयतीति चेत्।
परायशस्करेऽप्येवं कोपस्ते किं न जायते॥ 62॥

यदि तुम अपने निंदक पर इसलिए द्वेष करते हो कि वह तुम्हारा विनाश कर रहा है अथवा इसलिए कि (वह दोनों को प्रकट करके) लोकोपकार (लोक विनाशक कार्य) कर रहा है। (यदि वह बात सत्य है तो) दूसरों का अपयश सुनकर तुम्हें क्रोध क्यों नहीं उत्पन्न होता ?

परायत्ताप्रसादत्वादप्रसादिषु ते क्षमा।
क्लेशोत्पादपरायत्ते क्षमा नावर्णवादिनी॥ 63॥

दूसरों का आश्रय लेकर जिनमें क्रोध उत्पन्न होता है, उनके प्रति तो तुममें क्षमा भावना है तुम्हारी निंदा करने वाले भी तो अन्य (क्लेशादि) हेतु प्रत्ययों के कारण निंदक बने हैं किंतु उनके प्रति (तुम्हारी) क्षमा भावना नहीं है।

यहाँ शांतिदेव एक अन्य तर्क का पूर्वानुमान करते हैं यह कहकर कि कोई यह कह सकता है ''निश्चय ही जब कोई मेरा अपमान करता है, या मेरे प्रति निरादर की भावना अभिव्यक्त करता है या मुझसे बुरे वचन बोलता है तो मेरा उस व्यक्ति के प्रति क्रोध उचित है क्योंकि इससे दूसरों के दिल में मेरे प्रति विश्वास कम हो जाएगा।''

शांतिदेव यह तर्क देते हैं कि यदि वास्तव में यह संगत होता, यदि ऐसा है तो व्यक्ति उस समय क्यों न क्रोधातुर हो जाए जब अन्य कोई तीसरे व्यक्ति को भला-बुरा कहता है ? इसका उत्तर कोई इस प्रकार दे सकता है ''यदि कोई तीसरे व्यक्ति का निरादर कर रहा है तो उससे मुझे कुछ लेना-देना नहीं।''

साधना

इस सूत्र के लिए हम साधना करें जिसमें हम ऐसे व्यक्ति की भावना करें जो तुम्हें अरुचिकर हो, कोई जो तुम्हें परेशान करता है, तुम्हारे लिए कई समस्याएँ उत्पन्न करता है। ऐसे दृश्य की कल्पना करो जहाँ व्यक्ति तुम्हें तंग कर रहा हो, तुम्हें परेशान कर रहा हो और अपनी कल्पनाओं में जब तुम ऐसी भावना कर लो और अपनी स्वाभाविक सहज प्रतिक्रियाओं को बहने दो। फिर यह देखो कि क्या उससे तुम्हारी हृदय गति अधिक होती है। अपनी मानसिक भावनाओं को देखो कि क्या कोई तत्काल असुविधाजनक भावना उत्पन्न होती है या तुम्हारे अंदर और अधिक शांति की भावना उत्पन्न होती है। तीन या चार मिनट तक जाँच कर फिर निर्णय लो। फिर आखिरी मिनट में यह समझ लो तो कि खीज को बढ़ाने का कोई लाभ नहीं, केवल हमारे चित्त की शांति नष्ट होती है। तो अपने आप से कहो, ''भविष्य में मैं ऐसा कभी न करूँगा।'' इस निश्चय का विकास कर लो तत्पश्चात् साधना में तल्लीन हो जाओ।

प्रश्न : सम्मान के साथ कार्य करने के लिए दुःख पर चिंतन के अतिरिक्त क्या किसी और प्रतिकारक का परिष्कार किया जा सकता है ?

उत्तर : एक प्रतिकार है कि अनुशासन की विविधता पर चिंतन करना। बौद्ध धर्म के अनुसार अहंकार का एक प्रतिकार है सूत्र में पाए जाने वाले बहु वर्गों का चिंतन, सत्य का अनुभव करने के विभिन्न प्रकार आदि। एक अन्य उदाहरण वर्तमान शिक्षा पद्धति का है जिसमें बहु विषय हैं। ज्ञान के विभिन्न क्षेत्रों के प्रति चिंतन जिनके संबंध में हम अनजान हैं हमारे अहंकार को दूर करने में सहायता कर सकता है।

प्रश्न : क्षांति और धैर्य को बढ़ाने में क्षमा की क्या भूमिका है ?

उत्तर : क्षमा, क्षांति या सहिष्णुता का परिणाम फल है। जब कोई सही अर्थों में धैर्य, शील तथा सहनशील होता है तब क्षांति बड़ी सहजता से आती है। इस तरह वे आपस में अंतरंग रूप से जुड़े रहते हैं।

प्रश्न : बौद्ध धर्म में स्त्रियों का क्या स्थान है ? हम सबने बौद्ध तथा अन्य धर्मों में स्त्रियों के साथ की गई अति, पूर्वाग्रह और दुर्व्यवहार के संबंध में सुना है। परंतु बौद्ध धर्म ग्रंथ एक अन्य पुरुष दृष्टिकोण के संबंध में बताता है। स्त्रियों की अलग समाजिक तथा भौतिक समस्याएँ हैं। क्या नौसिखिए और भिक्षुणियों के लिए अलग-अलग अभ्यास धर्म ग्रंथ आदि हैं जो मार्ग के गहन पक्ष में से गुजरने में हमारी सहायता करते हैं ? एक भिक्षुणी तथा भिक्षु के जीवन में क्या अंतर है ?

उत्तर : यह सच है कि कई भारतीय पंडित जिनको हम तिब्बत बौद्ध साहित्य तथा विचार का प्रमाणिक रूप मानते हैं, पुरुष थे, इसलिए उनके विचार मुख्य रूप से पुरुष दृष्टिकोण को प्रतिबिंबित करते हैं।

तुमने जो दूसरा प्रश्न उठाया है वह तनिक जटिल है। सर्वप्रथम तो विनय नियमों के अनुसार बुद्ध ने पुरुष तथा स्त्रियों को समान अवसर

दिया। विनय सूत्र में पुरुष तथा स्त्रियों दोनों को पूर्ण रूप से अभिव्यक्ति करने की व्यवस्था है। यद्यपि मेरे विचार से सांस्कृतिक पक्षों के कारण भिक्षु को भिक्षुणियों की तुलना में श्रेष्ठ माना जाता है। इसलिए उस दृष्टिकोण से भेदभाव का तत्त्व देखने में आता है।

इसी तरह बोधिसत्व तथा तंत्र के सभी अभ्यासों में पुरुष तथा स्त्री दोनों ही अभ्यासी समान हैं। हालांकि कुछ ग्रंथों में ऐसी उक्तियाँ देखने में आती हैं कि वह बोधिसत्व जो बोधि प्राप्ति के अंतिम स्तर में है वह पुरुष रूप में है। उत्तर योग तंत्र के अनुसार न केवल मार्ग में समान अवसर प्राप्त हैं परंतु कोई भी अभ्यासी पूर्ण बुद्धत्व की प्राप्ति कर सकते हैं चाहे वे पुरुष रूप में हों या स्त्री रूप में। इसलिए वहाँ तो कोई भेदभाव या अंतर नहीं है। यद्यपि यह बिलकुल स्पष्ट जान पड़ता है कि उत्तर योग तंत्र में स्त्रियों के अधिकारों की ओर विशेष ध्यान दिया गया है क्योंकि जब उत्तर योग तंत्र में तांत्रिक नियमों की सूची बनायी जाती है तो एक मूल नियम है और वह है, स्त्रियों के साथ गाली-गलौच न कर उनका अपमान न करना। इन्हें सूची में इसलिए रखा गया है क्योंकि समाज के स्तर पर स्त्रियों को लेकर कुछ पूर्वाग्रह हैं। इसलिए स्त्रियों की मर्यादा तथा अधिकार का सम्मान करने के लिए विशिष्ट ध्यान दिया जा रहा है। यहाँ तक कि उत्तर योग तंत्र के एक आदर्श अभ्यासी के लिए स्त्रियों के साथ एक विशिष्ट व्यवहार अपेक्षित है। मातृ-तंत्र के अभ्यासी के लिए एक खास बल इस बात पर दिया जाता है कि यदि कोई विशिष्ट आपत्ति न हो, तब जब भी किसी की भेंट एक स्त्री से होती है, तब यह सुझाव है कि व्यक्ति साष्टांग प्रणाम कर अपनी श्रद्धा समर्पण करे। यदि कोई शारीरिक रूप से ऐसा नहीं कर पाता तो उसे मानसिक रूप से श्रद्धा अभिव्यक्त करनी चाहिए।

दूसरी ओर पुरुष अभ्यासी के साथ गाली-गलौच कर अपमान न करना एक मूल नियम के रूप में नहीं माना जाता। यह इस बात का संकेत करता है कि आवश्यकतानुसार सम्मान देने के प्रति एक विशिष्ट ध्यान दिया गया है। इसलिए मेरे विचार से आधारभूत रूप में समान अवसर प्राप्त है। यद्यपि सामाजिक व्यवस्था के कारण स्त्रियों को हीन मानना या उन्हें निम्न दृष्टि से देखने का खतरा है। इसलिए एक विशेष

महत्त्व स्पष्ट रूप से समानता की भावना को स्पष्ट करता है। यदि हम उसे एक बोधिसत्व दृष्टिकोण से देखें तो मेरे विचार से यह बराबर है।

मेरे विचार से देवी तारा एक सबसे प्रभावशाली नारीवादी हैं। तारा का आख्यान हमें यह बताता है कि जब उन्होंने पर कल्याण के लिए पूर्ण बुद्धत्व की प्राप्ति का महान उद्देश्य उत्पादित किया, तब उन्होंने निश्चय लिए। यह देखकर कि ऐसे कई बोधिसत्व थे जो पुरुष थे, कई मार्ग का अनुसरण करने वाले बोधिसत्व थे जो पुरुष थे और ऐसे कई जिन्होंने बुद्धत्व की प्राप्ति की, वे भी पुरुष थे, उन्होंने न केवल अपने वर्तमान स्त्री स्वरूप में बोधिचित्तोत्पाद की कामना की, परंतु मार्ग का आचरण करते हुए भी और पूर्ण बुद्धत्व की स्थिति में भी स्त्री स्वरूप को ही बनाए रखने का दृढ़ निश्चय किया।

प्रश्न : क्या आप आत्म घृणा की समस्या और उसे कम करने के विषय में बौद्ध उपायों की चर्चा कर सकते हैं ?

उत्तर : वास्तव में जब मैंने पहली बार 'आत्म घृणा' शब्द को सुना और इस तथ्य से मेरा परिचय हुआ तो मुझे बड़ा आश्चर्य हुआ। मेरे अविश्वास का कारण यह था कि बौद्धाभ्यासी होने के नाते हम अपने आत्म केंद्रित होने के भाव स्वार्थी विचार और उद्देश्य पर काबू पाने का पूरा प्रयास कर रहे हैं। इसलिए इस बात की कल्पना करना कि कोई अपने आप से घृणा करता है, अपनी कदर नहीं करता मेरे लिए असंभव था। बौद्ध दृष्टिकोण से आत्म घृणा अत्यंत खतरनाक है क्योंकि हतोत्साहित होना या निराश होना भी एक अति माना जाता है चूँकि आत्म घृणा की भावना निराशा की स्थिति से कहीं अधिक अति की स्थिति है इसलिए यह अत्यधिक खतरनाक है।

इसका प्रतिकार हमारे स्वाभाविक बुद्ध गोत्र में ही दिखाई देता है—इस विश्वास की स्वीकृति में कि प्रत्येक सत्व विशेषकर मनुष्यों में यह बुद्ध गोत्र है। बुद्धत्व प्राप्त करने की क्षमता है। बल्कि अपने ग्रंथ बोधिचर्यावतार में शांतिदेव इस बात पर बहुत बल देते हैं और यह कहते हैं कि दुर्बल सत्व जैसे मक्खी, मधुमक्खी तथा कीड़े भी यह क्षमता रखते हैं और अगर वे दीक्षा लेकर इस मार्ग पर चलें तो उनमें पूर्ण बुद्धत्व

प्राप्त करने की क्षमता है। अगर ऐसा है तो मैं जो मनुष्य हूँ जिसमें बुद्धि के साथ अन्य इंद्रियाँ भी हैं, क्यों नहीं कर सकता। यदि मैंने पहल की तो मैं क्यों पूर्ण बुद्धत्व की स्थिति प्राप्त नहीं कर सकता। इस तरह इस विचार पर बल दिया गया है। अपने ग्रंथ उत्तर तंत्र में मैत्रेय बुद्ध गोत्र के विषय में बौद्ध दृष्टिकोण प्रस्तुत करते हैं। इसके अनुसार किसी की वर्तमान व्यक्तिगत परिस्थिति पुरानी या दुर्बल कैसी भी हो सत्व अपने बुद्ध गोत्र को कभी खोता नहीं। पूर्ण बुद्धत्व की क्षमता का बीज सर्वदा बना रहता है।

आत्म घृणा की समस्या वाले व्यक्तियों के लिए इस समय यही उचित होगा कि वे अस्तित्व के दुखमय प्रकृति अथवा अस्तित्व में निहित असंतोषजनक प्रकृति के विषय में गंभीरतापूर्वक विचार न करें। बल्कि उन्हें अस्तित्व के सकारात्मक पक्षों, जैसे एक मनुष्य में निहित क्षमता तथा एक मनुष्य के नाते उसे मिल रहे अवसर को सराहना है। परंपरागत उपदेशों में एक पूर्ण मनुष्य के सभी गुणों की चर्चा की गई है। इन अवसरों व क्षमताओं के चिंतन द्वारा व्यक्ति अपना आत्म विश्वास तथा स्वयं के मूल्य को बढ़ा सकता है।

यहाँ एक महत्त्वपूर्ण बात एक कुशल ढंग की है एक ऐसा ढंग जो व्यक्ति की मानसिक शक्ति, प्रवृत्ति तथा रुचि की है। उदाहरण के तौर पर यदि हम किसी व्यक्ति को एक शहर से दूसरे शहर, जो दूर हो, ले जाना चाहें और मान लो कि वह व्यक्ति बहुत बहादुर नहीं है। यदि हम उस व्यक्ति को कठिनाइयों के बारे में बताएँ तो संभव है कि व्यक्ति पूर्ण रूप से हतोत्साहित या निराश हो जाए और यह सोचने लगे ''मैं कभी वहाँ पहुँच नहीं पाऊँगा। पर हम थोड़े कौशल से उद्देश्य की प्राप्ति कर सकते हैं।'' हम उस व्यक्ति को एक-एक कदम रखते हुए यह कहते हुए कि 'चलो शहर चलें' और एक बार वहाँ पहुँचने पर 'चलो दूसरे शहर चलें' कहते हुए ले जा सकते हैं। यह भी हमारी शिक्षा प्रणाली के समान है। यद्यपि हमारा उद्देश्य विश्वविद्यालय जाकर उच्च शिक्षा प्राप्त करना हो सकता है परंतु हम शुरुआत वहाँ से नहीं कर सकते। हमें प्राथमिक स्तर से प्रारंभ करना होगा जहाँ हम वर्णमाला इत्यादि से प्रारंभ कर सकते हैं। जैसे-जैसे व्यक्ति विकसित होता है वह

एक चरण से दूसरे चरण और फिर अगले चरण आदि से आगे बढ़ता है। इस तरह व्यक्ति उस चरम उद्देश्य को प्राप्त कर सकता है। इसी तरह धर्माभ्यास के संबंध में भी व्यक्ति की वर्तमान परिस्थितियों के अनुकूल ही हमें उपायों को अपनाना चाहिए। जैसे कि विभिन्न लोगों की विभिन्न स्वाभावगत विशेषताएँ होती हैं। उदाहरण के लिए विभिन्न लोगों की विभिन्न मानसिकता होती है; कुछ अधिक अहंकारी और गर्वीले हो सकते हैं और इसलिए उन्हें उस तरह का मार्ग या उपाय अपनाना चाहिए जो कि उस प्रकार की मानसिकता के अनुकूल हों। कुछ लोग प्रबल इच्छाओं या क्रोध वाले होते हैं तब उस प्रकार के व्यक्ति को ऐसा मार्ग अपनाना चाहिए जो इस प्रवृति के अधिक अनुकूल हो। और कुछ लोगों में कम साहस या कम आत्म-विश्वास होता है और ऐसे व्यक्ति को उस प्रकार का मार्ग अपनाना चाहिए जो उस मानसिकता के अधिक निकट हो। इसलिए आर्यदेव ने अपने ग्रंथ 'चतुश्चतकः' में विस्तारपूर्वक बताया है कि किस तरह प्रत्येक विद्यार्थी को उसकी मानसिकता के अनुसार मार्ग पर अग्रसर होना चाहिए।

वस्तुतः यहाँ पर एक ऐतिहासिक पूर्वोदाहरण है। बुद्ध के जीवन काल में एक राजा ने अपने पिता की जघन्य हत्या का अपराध किया था। परंतु वह उस अपराध के बोझ के तले दब कर बहुत ही उदास था। जब बुद्ध उससे मिलने आए तब उन्होंने कहा कि माता-पिता की हत्या की जानी चाहिए परंतु उनका मंतव्य शब्दशः यह नहीं था। बुद्ध उसे पुनर्जन्म के कारण कामना तथा मोह को बताने हेतु एक रूपक के समान प्रयुक्त कर रहे थे। चूँकि कर्म और कामना मिलकर पुनर्जन्म का निर्माण करते हैं, इसलिए एक प्रकार से वे दो माता-पिता के समान हैं इसलिए इस कथन द्वारा कि माता-पिता को मार देना चाहिए, उनका अर्थ था कि कर्म और कामना को नष्ट कर देना चाहिए।

प्रत्येक अभ्यासी की आवश्यकता के प्रति संवेदनशीलता के महत्त्व के दृष्टिकोण से हमें बुद्ध के उन सूत्रों के उपदेशों को भी समझना चाहिए, जो आत्मा के सिद्धांत को भी स्वीकार करते हैं।

प्रश्न : संसार की प्रकृति की पहचान एक सच्चे वैराग्य की

भावना को विकसित करती है। संसार की प्रकृति की पहचान किस प्रकार की जा सकती है ? दु:ख की मात्रा से व्यक्ति के मन में वैराग्य का विकास होता है या कि दु:ख की प्रकृति की पहचान वैराग्य को जन्म देती है ?

उत्तर : केवल दु:खों की पहचान मात्र से वैराग्य की भावना की उत्पत्ति नहीं होती। साथ ही साथ दु:खों के उत्पत्ति की पहचान तथा उससे कैसे दु:ख होता है, की पहचान भी आवश्यक है। इन दोनों को मिलाकर दु:ख की पहचान तथा दु:ख की उत्पत्ति की पहचान के अनुभव से ही व्यक्ति वैराग्य तक पहुँचता है।

प्रश्न : यदि भावनाओं से मुक्ति या भावनाओं को दूर हटाना उद्देश्य है तब हम सहृदयता का अनुभव किस प्रकार कर सकते हैं ? क्या सहृदयता एक भावना नहीं है ?

उत्तर : इस विषय में कुछ वैज्ञानिकों के साथ हुई मेरी चर्चा के संबंध में शायद आप सुनना पसंद करें। हम इस बात पर चर्चा कर रहे थे कि भावना को किस तरह पारिभाषित किया जा सकता है। अंत में हम इस बात पर सहमत थे कि बुद्धत्व की स्थिति में भी भावनाएँ होती हैं। इसलिए उस दृष्टिकोण से हम निश्चित रूप से यह कह सकते हैं कि सहृदयता भी एक भावना है।

यह आवश्यक नहीं है कि भावना नकारात्मक हो। भावनाओं के अंतर्गत विनाशकारी तथा सृजनात्मक दोनों ही हैं। हमें विनाशकारी भावनाओं को पूर्ण रूप से दूर करना चाहिए।

प्रश्न : क्या किसी दीक्षित ईसाई के लिए बौद्ध व्रत भी पालन करना संभव है। मैं एक प्रतिबद्ध ईसाई हूँ, यह कहना ठीक होगा कि एक दीक्षित ईसाई हूँ फिर भी ईसा मसीह के उपदेश तथा बुद्ध के धार्मिक मार्ग की मेरी समझ में अनुरूपता तथा सामंजस्य प्रतीत होता है, जिससे मुझे इन दोनों मार्गों के अभ्यास में आगे बढ़ने में सहायता मिलती है क्योंकि उन दोनों का ही निर्देश प्रकाश सत्य के मार्ग, प्रेम तथा स्वतंत्रता की ओर है। मेरे जीवन के एक गुरु थॉमस

मर्टन रहे हैं जो कि एक कैथोलिक पुजारी, भिक्षु और बौद्धाभ्यासी रहे हैं?

उत्तर : निस्संदेह विश्व की सभी धार्मिक परंपराओं में कई आम तत्त्व हैं। इसलिए मेरा यह विश्वास है कि प्रारंभिक अवस्था में व्यक्ति बौद्ध तथा ईसाई धर्म और संभवतः कुछ अन्य धर्मों का भी अभ्यास साथ-साथ कर सकता है। यह बहुत ही अच्छी बात है।

परंतु प्रश्न है कि जब व्यक्ति और अधिक आगे बढ़ता है। तब यह शिक्षा के क्षेत्र के समान है। जब व्यक्ति कोई विशेषज्ञ बन जाता है तब उसे एक विशिष्ट क्षेत्र चुनना पड़ता है। बौद्ध धर्म के अभ्यास में जब व्यक्ति एक स्तर तक पहुँच जाता है तब शून्यता का अनुभव उस मार्ग का एक प्रमुख अंग है। शून्यता की धारणा और एक पूर्ण सृजनकर्ता को साथ रखना मेरे विचार से कठिन है। दूसरी ओर एक ईसाई अभ्यासी के लिए उस परंपरा के अंतर्गत सृजनकर्ता तथा सृजनकर्ता को मानना एक महत्त्वपूर्ण तथ्य है जिससे कि वह आत्मानुशासन, सहृदयता तथा क्षमा का विकास कर और ईश्वर के साथ अपने अंतरंग संबंध में उसे अधिक कर सके। यह बहुत ही आवश्यक है। इसके साथ-साथ जब ईश्वर को परम तथा सर्वशक्तिमान माना जाता है तब इस धारणा को मानना कि बाकी सब सापेक्ष हैं थोड़ा कठिन है। हालांकि यदि कोई ईश्वर को वास्तविकता की परम प्रकृति या परम सत्य के रूप में समझता है तब एक समन्वित प्रस्ताव हो सकता है। फिर यदि हम पिता-पुत्र तथा पवित्र आत्मा की धारणा को एक नया अर्थ देना चाहें तो मेरे विचार से उनकी तुलना संभोगकाय निर्माणकाय तथा धर्मकाय तीन काय से की जा सकती है। यद्यपि जब व्यक्ति इस त्रियेक परमेश्वर को तीन काय सिद्धांत के संदर्भ में व्याख्यायित करने का प्रयास करता है तब वह अभ्यास क्या वास्तविक अर्थों में ईसाई रह पाता है इस पर प्रश्न उठाया जा सकता है।

3

तीसरा दिन

पहला सत्र

आगे शांतिदेव यह समझाते हैं कि जब कोई हमारी वस्तु को नष्ट करता है तब उस समय हमारे मन में जो क्रोध या घृणा उत्पन्न होती है, उसका सामना किस प्रकार करना चाहिए। यहाँ तक तो उन्होंने व्यक्तिगत रूप से पहुँची हानि या चोट के विषय में बताया है, इसके बाद वह यह समझा रहे हैं कि उस क्रोध का सामना कैसे किया जाए जो अपनी किसी वस्तु की हानि पर उत्पन्न हो।

प्रतिमातूपसद्धर्मनाशकाक्रोशकेषु च।
न युज्यते मम द्वेषो बुद्धादीनां न हि व्यथा॥ 64॥

बुद्ध आदि की प्रतिमा, स्तूप और धर्म का नाश करने वाले तथा निन्दकों पर भी द्वेष नहीं होना चाहिए, क्योंकि वास्तव में बुद्ध आदि पर कोई प्रभाव नहीं पड़ेगा।

64वें श्लोक में शांतिदेव इसकी चर्चा कर रहे हैं कि किस तरह एक बौद्धानुयायी अपने क्रोध को इस आधार पर उचित सिद्ध कर सकता है कि व्यक्ति बुद्ध की प्रतिमा को नष्ट कर रहा है अथवा अन्य अधार्मिक कार्यों यथा स्तूपों या पवित्र प्रतिमाओं को नष्ट कर रहा है।

एक बौद्धानुयायी के लिए यह अत्यंत मूल्यवान होती है। इन वस्तुओं को अपवित्र करने वाले व्यक्ति के प्रति उपजी अपनी घृणा की भावना को न्याय संगत मानकर व्यक्ति यह कह सकता है कि यह धर्म के लिए है। शांतिदेव कहते हैं कि यह उचित प्रतिक्रिया नहीं है क्योंकि यथार्थ में उसे सहन न करने के कारण व्यक्ति में प्रतिक्रिया होती है। परन्तु जहाँ तक पवित्र वस्तुओं का संबंध है उन्हें हानि नहीं पहुँच सकती।

गुरुसालोहितादीनां प्रियाणां चापकारिषु।
पूर्ववत्प्रत्ययोत्पादं दृष्ट्वा कोपं विचारयेत्॥ 65॥

उपर्युक्त कारणों को ध्यान में रखकर अपने गुरु, मित्र, बंधु तथा आचार्यों के प्रति हानि करने वालों को भी क्षमा करना चाहिए।

तत्पश्चात 65वें श्लोक में शांतिदेव कहते हैं कि अपने गुरु, मित्र, बंधु तथा आचार्यों के प्रति घृणा की भावना का विकास करना भी उचित नहीं है क्योंकि यहाँ भी अन्य व्यक्तियों को पहुँची चोट के पीछे भी उनके द्वारा अतीत में किए गए कार्य हैं। ऊपर से कुछ संदर्भों में तो परिस्थितियों का भी हाथ होता है। यदि कोई अपने मित्र को चोट पहुँचा रहा है तो उसका संबंध उस मित्र के किसी व्यवहार से भी हो सकता है—उसके कुछ कार्यों के कारण अन्य व्यक्ति उसे चोट पहुँचा सकता है। इसलिए व्यक्ति को इन तथ्यों को ध्यान में रखते हुए घृणा की भावना मन में नहीं लानी चाहिए।

चेतनाचेतनकृता देहिनां नियता व्यथा।
सा व्यथा चेतने दृष्टवा क्षमास्वैनां व्यथामतः॥ 66॥

हमारे ऊपर हानि पहुँचाने वाले चेतन-अचेतन, दोनों के होते हुए ऐसा कोई कारण नहीं कि हम विशेषतः चेतन पर ही क्रोध करें।

66वें श्लोक में शांतिदेव चिंतन कर रहे हैं कि जहाँ तक हानि

पहुँचाने वाले तथ्यों का संबंध है जैसा पहले बताया जा चुका है, चेतन तथा अचेतन दोनों ही वस्तुएँ हैं। परन्तु फिर भी ऐसा क्यों है कि हम विशेष रूप से केवल चेतन वस्तु को ही अलग कर उन्हें उत्तरदायी ठहराकर उनके प्रति द्वेष की भावना रखते हैं।

मोहादेकेऽपराध्यन्तिकुप्यन्त्यन्ये: विमोहिता: ।
ब्रूम: कमेषु निर्दोषं कं वा ब्रूमोऽपराधिनम् ॥ 67 ॥

(दूसरा) कोई अज्ञानवश दोष करता है और स्वयं अज्ञान या क्लेशवश क्रोधित होता है तो यहाँ पर यह परीक्षा होनी चाहिए कि वास्तव में कौन दोषी है, और कौन निर्दोष है।

यहाँ पर वे दोनों पक्षों के संतुलन को स्पष्ट करते हैं। यदि व्यक्ति किसी व्यक्ति को या अपने मित्रों को चोट पहुँचता है तब वह व्यक्ति मूल रूप में अपने कार्य के परिणाम के प्रति अज्ञानी है। अब यदि व्यक्ति ऐसे व्यक्ति के प्रति क्रोध अभिव्यक्त कर रहा है तब उसके मूल में भी अज्ञान ही है। इस तरह दोनों कर्मों में एक प्रकार का संतुलन है और यदि यह तथ्य है तो इसमें दोष किसका है? कौन सही है और कौन गलत? वह व्यक्ति जो चोट पहुँचा रहा है और वह व्यक्ति जो क्रोधित है, दोनों एक ही वर्ग में हैं।

कस्मादेवं कृतं पूर्वं येनैवं बाध्यसे परै: ।
सर्वे कर्मपरयत्ता: कोऽहमत्रान्यथाकृतौ ॥ 68 ॥

जितना दु:ख और हानि हमारी हो रही है वह पूर्व कर्म का फल है, जब अपना कर्म कर लिया है और सब कुछ कर्म पर निर्भर है तो दूसरों से द्वेष क्यों?

इस श्लोक में शांतिदेव न्यायसंगत तर्क के प्रतिकार में यह कहना चाहते हैं। कोई व्यक्ति किसी अन्य व्यक्ति के प्रति उत्पन्न अपनी क्रोध

की भावना को यह कहकर उचित ठहरा सकता है कि यह दोनों अलग-अलग परिस्थितियाँ हैं। पहली स्थिति में मैं अपने ही कार्य में तन्मय था। मैंने अन्य व्यक्ति को उकसाया नहीं और उस व्यक्ति ने मेरे न उकसाने पर भी मुझे हानि पहुँचाई। इस तरह हम दोनों एक-सी स्थिति में नहीं हैं। इसलिए प्रतिकार में मेरा क्रोध न्यायोचित है।

शांतिदेव के अनुसार इस परिस्थिति में व्यक्ति ने भलीभाँति चिंतन नहीं किया है। यदि वह सावधानीपूर्वक परीक्षण करे तो देखेगा कि अंततः व्यक्ति ही उत्तरदायी है क्योंकि व्यक्ति के अपने कर्म के कारण ऐसी परिस्थिति उत्पन्न हुई है। इसलिए व्यक्ति यह नहीं कह सकता कि इस परिस्थिति में मैं पूर्णतया निर्दोष हूं।

एवं बुद्धवा तु पुष्णेषु तथा यत्नं करोम्यहम्।
येन सर्वे भविष्यन्ति मैत्रचित्ताः परस्परम्॥ 69॥

यह जानकर कि हर एक प्राणी हमारी तरह सुख का अभिलाषी है, हम एक दूसरे के प्रति करुणा, मैत्री तथा सद्भाव युक्त व्यवहार करें, इस इच्छा से मैत्री भावना उत्पन्न करने की कोशिश होनी चाहिए।

69वें श्लोक में शांतिदेव यह निष्पादित करते हैं कि उनके द्वारा विकसित मार्ग पर चिंतन कर व्यक्ति को यह निश्चय करना चाहिए कि अब मेरा हर प्रयास होगा कि मैं सद्भाव तथा शांति से रहूँगा तथा दूसरे के साथ व्यवहार में प्रेम-भाव रखूँगा। मेरा हर संभव प्रयास केवल स्वयं को ऐसा रखना न होगा परंतु दूसरों को भी ऐसा करने के लिए प्रेरित करूँगा।

दह्यमाने गृहे यद्वदग्निर्गत्त्वा गृहान्तरम्।
तृणादौ यत्र सज्येत तदाकृष्यापनीयते॥ 70॥

एवं चित्तं यदासंगाद्दह्यते द्वेषवह्निना।
तत्क्षणं तत्परित्याज्यं पुण्यात्मोद्दाहशंकया॥ 71॥

जैसे किसी एक घर में आग लग जाए तो उस आग की लपटों से दूसरे घर को बचाने के लिए वहाँ की घास-भूसा जैसी सरलता से आग पकड़ने वाली वस्तुओं को दूर फेंकना उचित है, उसी प्रकार जिसके प्रति राग उत्पन्न होने के कारण क्रोध, द्वेष आदि उत्पन्न होने की आशंका है, उसका तुरंत परित्याग करना उचित है।

इन दोनों श्लोकों में शांतिदेव राग भावना जो कि मूल आधार है विशेषकर घृणा तथा क्रोध को समझने पर बल देते हैं। वह उदाहरण देते हैं कि यदि व्यक्ति अपने घर को जलता हुआ देखे तो उसे तत्काल ही जलते हुए घास-फूस को वहाँ से दूर फेंक देना चाहिए जिससे कि आग अन्य घरों में न फैल सके। इसी तरह जब घृणा की अग्नि फैलती है तो वह इस राग की अग्नि के कारण फैलेगी तो व्यक्ति का यह प्रयास होना चाहिए कि वह इस राग को दूर कर दे। साधारणतया महायान साहित्य विशेषकर 'शिक्षा समुच्चय' में जिसमें बोधिसत्वों के कार्य या उनकी जीवनचर्या में वर्णन है, हम इस बात पर बल पाते हैं कि व्यक्ति घृणा भावना को किस प्रकार समझे, कैसे अपने आपको बचाए और कैसे आमूल नष्ट कर दे।

घृणा तथा राग में अंतर यह है कि जब घृणा उत्पन्न होती है तब वह अत्यंत विनाशकारी होता है, बहुत ही कठोर होता है और उसमें तत्काल ही अत्यंत व्याकुलता उत्पन्न करने का गुण होता है। राग के साथ स्थिति ऐसी नहीं जिसमें सौम्यता की भावना अधिक होती है। यद्यपि घृणा के मूल में राग की भावना भी होती है इसलिए घृणा को निर्मूल करने के लिए हमें राग को भी समझना आवश्यक है।

इस स्थिति को स्पष्ट करना आवश्यक है कि यद्यपि राग की भावना परकल्याण में रत बोधिसत्वों के लिए सहायक है परंतु यह राग के कारण नहीं अपितु बोधिसत्वों के कौशल के कारण है कि वे किस प्रकार राग की भावना को पर-कल्याण के लिए प्रयोग में लाते हैं। हालाँकि हमें इस आधारभूत स्थिति के प्रति स्पष्ट होना चाहिए कि हमारे अस्तित्व के प्रति अज्ञान के मूल में राग की भावना है।

यह भी बहुत स्पष्ट है कि कई झगड़े तथा तर्क यहाँ तक कि

परिवार में होने वाले झगड़े के आधार में प्रबल राग की भावना है। इस तरह हम देखते हैं कि विभिन्न वस्तुओं के संदर्भ में राग के भी विभिन्न रूप हैं आकार, बाह्य रूप, ध्वनि, गंध, स्पर्श से मोह आदि, आदि। यह सभी अलग-अलग रूप से अत्यधिक प्रबल हैं तथा कई समस्याओं तथा कठिनाइयों को जन्म दे सकते हैं। तथापि प्रबलतम मोह, काम, भावना से संबंधित है। जहाँ पर ग्रंथ इस विशिष्ट प्रकार के मोह का वर्णन करते हैं वहाँ हम देखते हैं कि इसमें पाँचों इंद्रियों की अपनी भूमिका है। इसी कारण यह अपेक्षाकृत अधिक शक्तिशाली है और इसमें समस्याएँ तथा विनाश निहित है।

यद्यपि मुझे हैरानी होती है कि धन के प्रति मोह किस वर्ग में आता है क्योंकि यह नहीं कहा जा सकता कि व्यक्ति धन के रूप या आकार के प्रति आकर्षित होता है और न ही वह उसकी आवाज के मोह में बँधा होता है। धन से व्यक्ति अपनी मनचाही कई वस्तुएँ प्राप्त कर सकता है इसलिए शायद उस दृष्टिकोण से धन के प्रति मोह इतना प्रबल है।

यहाँ पुरुष तथा स्त्री के बीच के संबंधों की चर्चा करना प्रासंगिक होगा। यौन आकर्षण पर आधारित मैं संबंधों के दो मुख्य रूप देखता हूँ। एक प्रकार, केवल काम वासना पर आधारित है जिसका उद्देश्य तथा प्रेरणा अस्थायी संतोष है, एक प्रकार की तात्कालिक संतुष्टि है। इसके बाद व्यक्ति उसको आधार मानकर संबंध बनाते हैं। परंतु मेरे विचार से यह न तो स्थायी और न ही विश्वसनीय होता है क्योंकि व्यक्ति आपस में मनुष्यों के रूप में नहीं बल्कि वस्तुओं के रूप में संबंध जोड़ रहे हैं। हालाँकि यौन आकर्षण पर आधारित एक संबंध का एक दूसरा प्रकार है जिसमें आकर्षण का मुख्य कारण शारीरिक नहीं होता बल्कि दूसरे व्यक्ति की योग्यता के प्रति एक सम्मान भावना और प्रशंसा की भावना तथा यह भावना कि दूसरा व्यक्ति दयालु, भला तथा विनम्र है। इसलिए हम ऐसे व्यक्ति के प्रति आदर तथा सम्मान की भावना रख सकते हैं। ऐसे कोई भी संबंध जो उस पर आधारित हैं वह दीर्घकालिक तथा अधिक उचित होते हैं। ऐसे संबंधों की स्थापना के लिए आवश्यक है कि व्यक्ति के पास अन्य व्यक्ति को निजी स्तर पर समझाने के लिए पर्याप्त समय प्राप्त हो। जब प्रत्येक व्यक्ति को अन्य व्यक्ति को समझने

के लिए, मुख्य गुणों को समझने के लिए पर्याप्त समय मिलता है। इस तरह यह कहा जा सकता है कि दूसरे प्रकार में, उस संबंध की स्थापना में एक विशुद्ध करुणा भाव है। इसमें एक प्रकार का उत्तरदायित्व भाव है क्योंकि इसमें एक दूसरे के प्रति एक निष्ठा भाव रहता है, जबकि पहली स्थिति में इन तथ्यों का अभाव रहता है। वहाँ केवल अस्थायी संतोष भाव रहता है।

जैसा कि मैंने पहले कहा हर व्यक्ति में अपने ही अंदर कई असंगतियाँ और विरोधाभास दिखाई देते हैं। कभी-कभी एक ही दिन के पहले और बाद के भाग में ही इतने अधिक अंतर दिखाई देते हैं कि व्यक्ति अपनी सारी शक्ति उन्हें सुलझाने में ही लगा देता है। यह सर दर्द का कारण बन सकता है। इसलिए दो व्यक्तियों के बीच, माता-पिता और बच्चों के बीच, भाई-बहनों के विचारों में अंतर हो सकता है। संघर्ष और मतभेद का होना स्वाभाविक है। यह जानते हुए कि संघर्ष, मतभेद और विरोधाभास निश्चित है। प्रश्न यह है कि हम उनका सामना कैसे करें ? यदि हमारे अंदर इसका समाधान करने की क्षमता है तब हम ऐसी स्थितियों से निपट सकते हैं।

मारणीयः करं छित्त्वा मुक्तश्चेत् किमभद्रकम्।
मनुष्यदुःखैर्नरकान्मुक्तश्चेत् किमभद्रकम्॥ 72॥

यद्येतन्मात्रमेवाद्य दुःखं सोढुं न पार्यते।
तन्नारकव्यथाहेतुः क्रोधः कस्मान्न वार्यते॥ 73॥

यदि प्राणदंड के बदले एक हाथ काटकर जीवन की रक्षा की जा सकती है तो हाथ काटना अच्छा है, वैसे ही यदि इस मानव जीवन की पीड़ाओं से नरक से मुक्ति हो सकती है तो इसका कष्ट सहना उचित है।

इन दोनों श्लोकों में शांतिदेव यह समझाते हैं कि दूसरों के द्वारा नुकसान पहुँचाए जाने पर यदि विद्वेष की भावना न उत्पन्न हो तो उससे

यह लाभ होता है कि हम अपने आपको संभावित अप्रिय नतीजों से बचा सकते हैं। क्योंकि ऐसी परिस्थितियों में यदि कोई क्रोध अथवा विद्वेष की भावना से भर जाए तो उससे वह न केवल जो नुकसान हो चुका है उससे अपने आपको बचा सकता है, पर ऊपर से अपने भविष्य के दु:खों के लिए भी अतिरिक्त कारण इकट्ठा कर लेता है। पर यदि कोई क्रोध और विद्वेष के बिना क्षांति और सहनशीलता से काम लेता है तो संभव है कि उसे कोई अस्थायी असुविधा या नुकसान उठाना पड़े। पर वह अस्थायी दु:ख-आगामी संभावित दु:खों से उसकी रक्षा करेगा। और स्थिति यदि ऐसी है तो छोटी कठिनाइयों और मुश्किलों को झेलने से व्यक्ति भविष्य में आने वाले बड़े दु:खों को झेलने से बच जाएगा। इस संदर्भ में शांतिदेव यह उदाहरण देते हैं कि यदि कोई सज़ा झेल रहा कैदी सज़ा अपना हाथ काटकर अपनी जान बचा सकता है तो क्या वह उस अवसर के लिए कृतज्ञता का अनुभव नहीं करेगा ? अपने हाथ के काटे जाने के दु:ख को झेलकर वह व्यक्ति अपने आपको मृत्यु से बचा पाएगा जो कि और बड़ा दु:ख है। शांतिदेव आगे कहते हैं कि इसका एक लाभ और है—व्यक्ति न केवल भविष्य के दु:खों से अपने आपको बचा सकेगा परंतु अस्थायी रूप से दूसरों के द्वारा पहुँचाए गए दु:खों के कारण अतीत में संचित नकारात्मक प्रभावों के कार्मिक प्रभावों को भी समाप्त कर सकता है। इस तरह दो कार्य हो सकते हैं।

छोटी-छोटी तकलीफों को स्वीकार करने से व्यक्ति को अन्य अभ्यासों के प्रयोग का भी अवसर प्राप्त हो जाता है। व्यक्ति को ऐसी आकांक्षा और समर्पण की प्रार्थना करनी चाहिए 'इन दु:खों की अनुभूति से मैं अपने अतीत के नकारात्मक कर्मों का पवित्रीकरण कर सकूँ।' व्यक्ति इस अवसर को महायान मार्ग के *तोंग-लेन* अभ्यास के लिए भी काम में ला सकता है। इसके लिए जब व्यक्ति दु:ख और पीड़ा का अनुभव करता है तब वह यह सोचता है कि मेरे दु:खों के अनुभव से अन्य सत्वों के दु:खों और पीड़ाओं का स्थान ले ले। मेरा यह अनुभव अन्य सत्वों को इस प्रकार के दु:खों को झेलने से बचा ले। इस तरह व्यक्ति दूसरों के दु:खों को अपने ऊपर झेलता है और कठिनाइयों को झेलने के अनुभव को इसी के अभ्यास के अवसर रूप में भी ग्रहण करता है।

यह सलाह बीमारी से निपटने की हालत में खासकर लाभदायक है। इसमें कोई संदेह नहीं कि सबसे पहले बीमारी से बचने के लिए हमें सभी सावधानियाँ बरतनी पड़ती हैं जैसे कि उचित भोजन ताकि हम बीमार न पड़ें। फिर जब हम बीमार पड़ते हैं तो यह बहुत आवश्यक है कि हम उपचार संबंधी दवा-दारू को अनदेखा न करें। जो भी हो बीमारी का सामना करने में एक महत्त्वपूर्ण अंतर यह होगा कि अपने आपके लिए दु:खी होने के बजाय, चिंता को अपने ऊपर हावी होने देने के बजाय, सही व्यवहार से, हम अपने आपको इन अतिरिक्त मानसिक चिंताओं से बचा सकते हैं। यद्यपि इससे हम अपने शारीरिक दु:ख और पीड़ा को कम करने में सफल नहीं हो सकते पर हम यह सोच सकते हैं, ''मैं अपने इस दु:ख और पीड़ा के अनुभव से उन लोगों का दु:ख दूर करने में उनकी सहायता कर सकूँगा जिन्हें इन्हीं दु:खों का सामना करना पड़ेगा। इस तरह वह व्यक्ति उस अवसर को एक आध्यात्मिक अभ्यास के अवसर के रूप में देख सकेगा, दूसरे शब्दों में *तोंग-लेन* अथवा *आदान-प्रदान* अभ्यास का अभ्यास कर पाएगा। यद्यपि यह आवश्यक नहीं कि इस प्रकार का अभ्यास शारीरिक बीमारी को दूर करने में सफल हो, परंतु निश्चित रूप से यह बेकार की मानसिक दु:खों से हमारी रक्षा करेगा। और ऊपर से यह भी संभव है कि इन अनुभूतियों से दु:खी होने के बजाय हम इसे एक सौभाग्य के रूप में देख सकते हैं। वस्तुत: हम इसे एक ऐसे अवसर के रूप में देख कर प्रसन्नता का अनुभव कर सकते हैं, जिसने हमारे जीवन को सही अर्थों में कीमती बनाया है।''

कभी कभी कर्म के सिद्धांत को ठीक ढंग से न समझने की भूल से व्यक्ति की यह आदत हो जाती है कि वह हर बात के लिए कर्म को दोषी ठहराता है और अपने उत्तरदायित्व के भार से मुक्त होने की कोशिश करता है या फिर अपनी ओर से कोई प्रयास नहीं करता। किसी के लिए यह कहना बहुत सरल है कि यह मेरे पूर्व अकुशल कर्मों का परिणाम है। मैं क्या कर सकता हूँ ? मैं बिलकुल असहाय हूँ। कर्म की यह समझ बिलकुल गलत है क्योंकि यद्यपि अपने पूर्व कृत कर्मों का फल भोगता है पर इसका यह अर्थ नहीं कि व्यक्ति के पास और कोई

रास्ता नहीं और न ही परिवर्तन लाने के लिए उस व्यक्ति के पास कोई रास्ता नहीं। जीवन के सभी क्षेत्रों में यह एक ही जैसा है। हमें यह बहाना बनाकर कि सभी कर्मों का परिणाम है किसी भी तरह की पहल किए बिना अकर्मण्य नहीं होना चाहिए। यदि हम कर्म की धारणा को ठीक ढंग से समझ लें तो हम यह समझ पाएँगे कि कर्म का अर्थ 'कार्य' होता है और यह एक क्रियाशील प्रक्रिया है।

जब हम किसी कर्म की बात करते हैं तो किसी कर्ता द्वारा अतीत में कार्य किए जाने की आवश्यकता है और इस संदर्भ में किसी व्यक्ति के द्वारा किए गए कार्य की बात आती है। इसलिए भविष्य किस प्रकार का होगा, वह बहुत अंशों तक व्यक्ति की अपनी क्षमता पर निर्भर करता है और उसका निर्णय इस बात से होता है कि वह किस प्रकार की पहल कर रहा है। केवल यही नहीं कर्म को एक अकर्मण्य, गतिहीन शक्ति के रूप में नहीं बल्कि एक क्रियाशील प्रक्रिया के रूप में समझा जाना चाहिए। इससे यह संकेत मिल जाता है कि कर्म की प्रणाली को एक विशिष्ट रूप देने में कर्ता की महत्त्वपूर्ण भूमिका होती है। उदाहरण के लिए हम खाने की आवश्यकता जैसी एक सीधी-सादी बात को लें। इस उद्देश्य को पूरा करने के लिए भी व्यक्ति को अपने आप कुछ करने की आवश्यकता होती है : हमें खाने को ढूँढ़ने, उसे बनाने और खाने की आवश्यकता होती है। इससे यह पता चलता है कि एक सीधे-सादे कार्य, एक सीधे-सादे उद्देश्य के लिए भी क्रियाशील होना पड़ता है।

कोपार्थमेवमेवाहं नरकेषु सहस्त्रशः।
कारितोऽस्मि न चात्मार्थः परार्थो वा कृतो मया॥ 74॥

न चेदं तादृशं दुःखं महार्थं च करिष्यति।
जगद्दुःखहरे दुःखे प्रीतिरेवात्र युज्यते॥ 75॥

अब तक असंख्य जन्मों में नरक आदि के कामवश जितने भी दुःख हमने झेले, वह न अपने कल्याण के लिए हुए और न ही दूसरों के, परंतु आज बोधिसत्वचर्या के लिए जितना भी कष्ट सहना पड़े, वह बहुत

कम है और हर समय सबके लिए हितकारी है; इसलिए हमें सहर्ष इसका अभ्यास करना चाहिए।

इन श्लोकों में शांतिदेव समझाते हैं कि दूसरों की भलाई के कार्य के लिए और क्षांति तथा सहनशक्ति के विकास के लिए जो कठिनाइयाँ, दु:ख और मुश्किलें झेलनी पड़ती हैं वे निम्न स्तर के दु:खों की तुलना में नगण्य हैं। शिक्षा और प्रशिक्षण द्वारा दूसरों की सहायता में जो कठिनाइयाँ सामने आती हैं उसे निश्चित रूप से झेला जा सकता है।

साधना

आइए, अब हम ऐसे व्यक्ति की भावना करें जो कि बहुत दु:ख झेल रहा है या फिर बहुत दुर्भाग्यपूर्ण स्थिति में/है और करुणा पर ध्यान करें। तत्पश्चात् अपने आपको उस व्यक्ति से जोड़ कर देखें और ऐसा सोचें कि उस व्यक्ति में भी आपकी ही तरह पीड़ा, प्रसन्नता और खुशी अनुभव करने की क्षमता है। उसके बाद केवल उस व्यक्ति की दुर्भाग्यपूर्ण अस्तित्व की अवस्था और उसके गहन दु:ख पर ध्यान केंद्रित करें और उस सत्व के प्रति एक स्वाभाविक करुणा भावना का विकास करें। उस सत्व के प्रति आपके मन में एक स्वाभाविक करुणा की भावना जन्म ले।

पहले की ही तरह ध्यान के पहले तीन मिनट हम दु:ख, उसकी दुर्भाग्यपूर्ण अवस्था इत्यादि पर विश्लेषणात्मक ढंग से सोचने पर लगाएँ। उसके बाद यह सोचते हुए ऐसे निष्कर्ष पर पहुँचने का प्रयास करें कि ''मेरी यह तीव्र लालसा है कि उस सत्व को उस पीड़ा से मुक्ति मिले'' और ''मैं यह प्रयास करूँगा कि उस सत्व का दु:ख दूर हो।'' फिर एकाग्रता से उस प्रकार के निश्चय परं चित्त लगाएँ।

साधारणतया जब हम साधना की बात करते हैं तो उसके दो मुख्य

रूप हैं। एक प्रकार में तो हम किसी वस्तु को साधना की वस्तु मानते हैं। उदाहरण के लिए अनित्यता अथवा शून्यता की साधना करते समय तुम अपना चित्तोत्पादन उसकी प्रकृति के अनुसार नहीं करते अपितु अनित्यता और शून्यता को ध्यान की वस्तु मानकर उस पर अपना ध्यान केंद्रित करते हो। दूसरी प्रमुख प्रकार की साधना उस प्रकार की है जिसमें तुम अपना चित्त एक विशेष प्रकार की स्थिति में उत्पन्न करते हो। उदाहरण के लिए प्रेम तथा करुणा पर साधना करते समय तुम प्रेम तथा करुणा को साधना की वस्तु के रूप में नहीं देखते बल्कि अपने चित्त को प्रेम अथवा करुणा की स्थिति में उत्पन्न करते हो।

मेरे विचार से यह समझना बहुत आवश्यक है कि जब तुम करुणा का विकास करते हो तो पारिभाषिक रूप में तुम अन्य सत्वों के दु:खों को बाँटने का प्रयास कर रहे हो। उस दृष्टिकोण से तुम अपने आप पर अतिरिक्त दु:ख का बोझ डाल रहे हो। इसमें यह तत्त्व है। इसी कारण उस अनुभव में निहित तात्कालिक भावना अथवा अनुभूति से कुछ असुविधाओं को झेलने की नौबत आ सकती है। परंतु उसकी गहराई में व्यक्ति में एक उच्च स्तर की सतर्कता की भावना होनी चाहिए क्योंकि तुम जान-बूझकर और स्वेच्छा से एक महत् उद्देश्य के लिए दूसरों के दु:ख को झेल रहे हो। यह उस परिस्थिति से बिलकुल भिन्न है जिसमें तुम अपने ही दु:ख के बारे में सोचते हो जो तुम्हें इस हद तक अभिभूत कर देता है, बोझिल कर देता है कि तुम्हारी कार्य शक्ति जड़ और मंद पड़ जाती है। करुणार्जन के लिए दूसरों के दु:ख को अपने ऊपर लेते समय व्यक्ति जिस प्रकार की असुविधा का अनुभव करता है, उसमें एक सतर्कता, एक सोच की भावना निहित होती है। इसलिए तुम जितना अधिक दूसरों के दु:ख को अपने ऊपर झेलते हो, तुम्हारा निश्चय और सतर्कता की भावना उतनी ही अधिक होती है। यही बात व्यक्ति को ध्यान में रखना चाहिए।

व्यक्ति को महान तिब्बती कदंप गुरु लांगरी तांग्मपा जैसी कहानियों को गलत नहीं समझना चाहिए जो कि करुणा और प्रेम के महान साधक थे। ऐसा कहा जाता है कि वे हमेशा रोते रहते थे। यहाँ तक कि उनका उपनाम 'रुदनशील लामा' पड़ गया था। परंतु इसे समझने में भूल नहीं

करनी चाहिए क्योंकि जिस उद्देश्य के लिए वे महान गुरु सदा रोते रहते थे, वह आनंद की एक स्थिति थी, पूर्ण आनंद की स्थिति दूसरों के लिए और स्वयं के लिए। यह अवस्था सुगत अवस्था के नाम से जानी जाती है जिसका शाब्दिक अर्थ है—'क्षेत्र में जाना', 'के पार जाना', और यह प्रसन्नता तथा पूर्ण शांति की अवस्था है। इस तरह लांगरी तांग्मपा इसलिए नहीं रो रहे थे क्योंकि वे दु:ख की अवस्था में जाना चाहते थे अपितु इसलिए कि वे स्वयं और दूसरों को सुख और प्रसन्नता की अवस्था में ले जाना चाहते थे।

प्रश्न : कृपया भय और विद्वेष तथा भय और क्षांति में संबंध समझाने की कृपा करें।

उत्तर : भय के कई प्रकार हैं। कुछ डर तो सच्चे हैं जो कि उचित कारणों पर आधारित हैं और कुछ तो केवल हमारे चित्त का सृजन हैं। मेरे विचार से दूसरे प्रकार का भय एक लंबी अवधि के नकारात्मक परिणामों से उत्पन्न होता है और यह दु:ख की अवस्था है। मेरे विचार से अपने ही नकारात्मक भावनाओं का भय एक उचित प्रकार भय है। अपने ही चित्त के नकारात्मक स्थिति के कारण दूसरों के लिए जो भय उत्पन्न होता है, वह दूसरों के लिए विद्वेषपूर्ण प्रतीत हो सकता है। उस कारण कभी-कभी एक ऐसे भी प्रकार का भय है, जिसका संबंध विद्वेष से हो सकता है। भय अथवा क्षांति, मैं नहीं जानता।

प्रश्न : दूसरे व्यक्तियों के क्रोध से निपटने के ढंग को सीखने के बजाय हम नाराज व्यक्तियों का साथ ही क्यों न छोड़ दें ?

उत्तर : यह बिलकुल सही है। बल्कि प्रारंभिक अवस्था में अभ्यासी एकांत स्थान चुनता है। परंतु यह एक लंबे समय का समाधान नहीं है। यह एक अस्थायी उपाय है। जब कोई अकेला रहता है तब उसे आंतरिक शक्ति का विकास करना चाहिए ताकि जब वह समाज में लौट आए तो वह पूर्ण रूप से लैस हो। वह व्यक्ति जो अपने आप को समाज से बिलकुल अलग कर लेता है और दूसरों से व्यवहार करने से कतराता है, और अपना पूरा जीवन एकांत में रहकर साधना में लीन रहता है,

अर्हत बन सकता है जिसके लिए कहा जाता है कि वह गैंडे के समान है।

प्रश्न : हमारे पास बौद्ध प्रकृति या धातु के अस्तित्व के होने का क्या प्रमाण है ? हम यह कैसे जान सकते हैं कि सबमें यह है और हममें भी यह मौजूद है ?

उत्तर : सबसे पहले बौद्ध विचारधारा में एक कारण यह है कि चित्त की धर्मता द्रव्यहीनता है जिसे बौद्ध, शून्यता के नाम से जानते हैं। इस तरह हमारे चित्त के आंतरिक वास्तविकता की समझ केवल एक माया है, चित्त का एक विकृत रूप जिसका कोई आधार नहीं, और इसे आमूल रूप से नष्ट किया जा सकता है। यह एक ऐसा तथ्य है जिसे अनुमान मात्र से समझ सकते हैं और जिसके लिए किसी धर्म ग्रंथ के प्रमाणों की आवश्यकता नहीं होती परंतु इसके लिए केवल बौद्धिक स्तर अथवा अनुमान के स्तर पर ही समझ आवश्यक नहीं, परंतु इसके साथ साधना का अनुभव भी मिला हुआ होना चाहिए। इस तरह आनुमानिक स्तर, बौद्धिक समझ और साधना के अनुभव के सहयोग से ही हम इस समझ तक पहुँच सकते हैं कि चित्त की मूल प्रकृति शून्यता है और ऐसे भ्रांतिपूर्ण अवस्थाओं को दूर किया जा सकता है जो कि चित्त के आंतरिक अस्तित्व की समझ के अनुमान पर आधारित हैं।

चित्त के शुद्ध स्वरूप के बारे में जानना इस तरह भी संभव है जब हम इस बात की ओर ध्यान केंद्रित करते हैं कि जब हम चेतना की बात करते हैं तो उस चेतना की खास बात यह है कि वह केवल अनुभव के स्तर पर या प्रकाश के स्तर पर है। वह तथ्य ऐसा है जिसे पूरी तरह से नहीं तो बहुत बड़े हद तक अनुमान के आधार पर भी समझा जा सकता है। परंतु यह समझने के लिए कि चित्त की मूल प्रकृति शुद्ध तथा प्रकाशमय है, ग्रंथ के प्रमाणों की आवश्यकता पड़ सकती है क्योंकि इसके लिए चित्त के विभिन्न स्तरों के अंतर को समझने की आवश्यकता है। इन्हें सूक्ष्म चित्त के चार अलग-अलग स्तरों के संदर्भ में समझाया गया है जिसका अंतिम रूप अत्यधिक सूक्ष्म होता है जो चित्त के **प्रभावस्वर** के नाम से भी जाना जाता है। यह कहना बहुत

कठिन है कि ग्रंथों के आधार के बिना केवल तर्क के आधार पर इन्हें समझा जा सकता है।

आत्मानुभव के आधार पर एक सीमा तक समझ ही यहाँ महत्त्वपूर्ण बात है। वज्रयान साहित्य में ऐसे रूपकात्मक तर्क देखने में आते हैं जो इन धारणाओं के अस्तित्व की प्रतिस्थापना में प्रयासशील हैं और 'सूक्ष्म चेतना के स्तर की अस्सी धारणाओं' के नाम से जाने जाते हैं और चित्त के चार सूक्ष्म स्तरों से संबंधित हैं। पर फिर भी मैं निजी तौर पर यह सोचता हूँ कि केवल तर्क और कारणों द्वारा हम किसी निष्कर्ष पर नहीं पहुँच सकते। मैत्रैय के 'उत्तरतंत्र' में भी हम यह तर्क पाते हैं कि हमारे आन्दर सुख को प्राप्त करने और दु:ख से बचने की इच्छा का कारण यह है कि हमारे लिए दु:ख को दूर कर सुख को प्राप्त करना संभव है। वहाँ वह बुद्ध प्रकृति अथवा तथागतगर्भता के अस्तित्व की ओर भी संकेत करते हैं।

प्रश्न : उन धर्म गुरुओं के बारे में आपके क्या विचार हैं जो धर्म के बारे में बहुत अच्छा बोलते और लिखते हैं, परंतु उसके अनुसार आचरण नहीं करते ?

उत्तर : चूँकि बुद्ध इस संभावना से परिचित थे इसलिए एक शिक्षक होने के लिए कठोर नियम बनाए थे। आजकल ऐसा प्रतीत होता है कि यह एक गंभीर समस्या बन गई है। पहले तो एक शिक्षक के दृष्टिकोण से : वह व्यक्ति जो कुछ उपदेश देता है अथवा धर्म पर व्याख्यान देता है सही अर्थों में प्रशिक्षित विद्वान, ज्ञानी होना चाहिए। चूँकि यह विषय इतिहास या साहित्य नहीं परंतु आध्यात्मिक है, शिक्षक को कुछ अनुभव प्राप्त करना चाहिए। उसके बाद वह व्यक्ति जब किसी धर्म के विषय में बोलता है तो उसकी कुछ सार्थकता होती है। अन्यथा वह इतना प्रभावशील नहीं होता। इसलिए वह व्यक्ति जो दूसरों को धर्म के विषय में बताता है उसे अपना उत्तरदायित्व समझना चाहिए और तैयार रहना चाहिए। यह बहुत आवश्यक है। इसके महत्त्व के कारण लामा जोग्मपा जब किसी शिक्षक के गुणों की व्याख्या करते हैं तो मैत्रैय के *'महायानसूत्रलंकार'* से उद्धरण लेते हैं जिसमें मैत्रैय ने उन सभी विशिष्ट

गुणों की सूची दी है जो किसी भी शिक्षक के लिए आवश्यक हैं, जैसे कि शिक्षक अनुशासित हो, शांतियुक्त हो, करुणाशील हो इत्यादि, इत्यादि। निष्कर्ष में लामा जोग्मपा यह कहते हैं कि आध्यात्मिक गुरु की खोज की इच्छा रखने वाले व्यक्तियों को सबसे पहले इस बात का ज्ञान होना चाहिए कि वे अपने गुरु में किन गुणों की अपेक्षा करें। फिर उस ज्ञान के आधार पर गुरु की तलाश करें। इसी तरह जो शिष्यों की खोज में हैं और शिक्षक बनना चाहते हैं, उन्हें न केवल इन नियमों की जानकारी होनी चाहिए परंतु स्वयं यह भी देखना चाहिए कि उनमें वे गुण हैं या नहीं, और यदि न हों तो उन्हें प्राप्त करने के लिए कार्यरत होना चाहिए। इसलिए एक शिक्षक की ओर से भी उन्हें अपने उत्तरदायित्व का अनुभव होना चाहिए। यदि कोई व्यक्ति अंदर ही अंदर धन की चाह रखता है तो अच्छाई इसी में है कि वह किसी और ढंग से धन कमाए। इसलिए यदि उद्देश्य की गहराई में कोई और कारण है, तो यह बहुत दुर्भाग्य की बात है। ऐसा कार्य वास्तव में इस साम्यवादी दोषारोपण का पुष्टि है कि धर्म शोषण का एक माध्यम है। यह बहुत दुखदायी है।

बुद्ध स्वयं इस दुरुपयोग की संभावना से परिचित थे। इसलिए उन्होंने यह स्पष्ट रूप से कह दिया कि पाँच प्रकार के गलत ढंग से की गई कमाई से जीवन जीना नहीं चाहिए। उनमें से एक अपने अधिकतम लाभ के लिए उपकारक को धोखा देना और उसकी चापलूसी करना है।

अब शिष्य की ओर से भी उत्तरदायित्व है। सबसे पहले तो तुम्हें आँख बंद कर शिक्षक को स्वीकार नहीं करना चाहिए। यह बहुत ही महत्त्वपूर्ण है। आप किसी से भी धर्म की शिक्षा ग्रहण कर सकते हैं जो आवश्यक नहीं कि गुरु हो, वह एक आध्यात्मिक मित्र भी हो सकता है। उस व्यक्ति को अच्छी तरह परख लें जब तक कि आपको पूरा विश्वास न हो जाए और आप यह कहने की स्थिति में न आ जाएँ कि अब वह मेरा गुरु हो सकता है। जब तक कि ऐसा विश्वास न आ जाए उस व्यक्ति को अपना आध्यात्मिक मित्र समझें। तत्पश्चात् उससे शिक्षा ग्रहण करें। आप किताबों से भी सीख सकते हैं और जैसे-जैसे समय बीतता जाएगा और किताबें उपलब्ध होती रहेंगी, आप सीखते जाएँगे।

इसलिए मैं सोचता हूँ कि यही बेहतर है।

यहाँ मैं एक ऐसी बात की ओर संकेत करना चाहूँगा जो मैंने गुरु शिष्य के संबंध के एक विशिष्ट रूप के विषय में तीस वर्ष पूर्व कही थी। जैसा कि आपने शांतिदेव के ग्रंथ *बोधिचर्यावतार* में देखा कि किसी विशिष्ट संदर्भ में कुछ पंक्तियों पर बहुत बल दिया जाता है और यदि तर्क को उचित संदर्भ में न देखा जाए तो गलतफहमी की बहुत संभावनाएँ हैं। ठीक इसी तरह गुरु शिष्य के संबंध में चूँकि एक प्रेरणा के स्रोत, आशीर्वाद, शिक्षण के रूप में गुरु एक बहुत महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाता है इसलिए, गुरु पर निर्भर होने और उचित संबंध बनाए रखने पर बहुत बल दिया जाता है। इन अभ्यासों की व्याख्या के ग्रंथों में हम एक खास अभिव्यक्ति पाते हैं जो है—"मेरे मन में गुरु के प्रति श्रद्धा विकसित हो, भक्ति हो जिससे मैं उनके हर कार्य को शुद्ध देख सकूँ।"

मैंने तीस वर्ष पूर्व ही कहा था कि यह एक खतरनाक धारणा है। गुरु के प्रत्येक आचरण को शुद्ध मानना और उनके हर कार्य को प्रबुद्ध मानने में अत्यधिक दुरुपयोग की संभावना है। मैंने कहा है कि यह विष के समान है। कुछ तिब्बतियों के लिए यह वाक्य कुछ अति समान लग सकता है। परंतु जैसे-जैसे समय बीत रहा है मेरी चेतावनी बहुत कुछ प्रासंगिक जान पड़ती है। जो भी हो, यह मेरा विश्वास और विचारधारा है परंतु मेरी यह धारणा कि यह एक विषैली संभावना है, बुद्ध के अपने शब्दों पर आधारित है। उदाहरण के लिए विनय के उपदेश जो बुद्ध द्वारा दिए गए नैतिक तथा मठ के अनुशासन की रूप-रेखा से संबंधित ग्रंथ हैं और जहाँ अपने गुरु के प्रति संबंध का बहुत ही महत्त्व है, बुद्ध कहते हैं कि यद्यपि तुम्हें अपने गुरु के प्रति श्रद्धावान होना चाहिए, पर यदि तुम्हारे गुरु तुम्हें ऐसी शिक्षा देते हैं जो कि धर्म के विपरीत है तो तुम्हें उनका त्याग करना चाहिए।

सूत्रों में भी बुद्ध द्वारा दिए गए स्पष्ट कथन हैं, जिनमें वे कहते हैं कि गुरु द्वारा दिए गए कोई भी आदेश जो कि साधारण धर्म के अनुसार हैं, उनका पालन किया जाना चाहिए और वे आदेश जो कि साधारण धर्म के अनुकूल नहीं हैं, उनका परित्याग करना चाहिए।

वज्रयान बौद्ध धर्म के *'अनुत्तरयोगतंत्र'* में गुरु शिष्य का संबंध

अत्यंत महत्त्वपूर्ण रूप धारण कर लेता है। उदाहरण के लिए *अनुत्तरयोगतंत्र* में गुरु योग जैसा अभ्यास है। यह पूरा योग गुरु संबंध के प्रति समर्पित है। यद्यपि *अनुत्तरयोगतंत्र* में भी हमें ऐसे कथन देखने को मिलते हैं जो यह बताते हैं कि यदि गुरु द्वारा दिए गए निर्देश धर्म के अनुसार नहीं है तो उनका पालन नहीं किया जाना चाहिए। तुम्हें गुरु को वे कारण समझाने चाहिए कि तुम उनका पालन क्यों नहीं कर सकते। मात्र इसलिए कि गुरु ने कहा है तुम्हें उनका पालन नहीं करना चाहिए। हम यहाँ यह देखते हैं कि हमें इस प्रकार का निर्देश नहीं दिया जा रहा कि ''ठीक है आप जो भी कहते हैं, मैं उसे करूँगा'' बल्कि हमें अपनी बुद्धि तथा निर्णय का प्रयोग कर उन आदेशों, जो कि धर्म के अनुकूल नहीं हैं, के प्रति निर्देश दिया गया है।

यद्यपि जब हम बौद्ध धर्म के इतिहास को पढ़ते हैं कि हमें तिलोपा, नरोपा, मारपा और मिलारेपा जैसे एकाग्रचित्त वाले गुरु भक्ति वाले गुरु देखने को मिलते हैं जिनमें एक प्रकार की अति-सी जान पड़ती है। पर हम पाते हैं कि यह गुरु सतही तौर पर निर्वासित अथवा भिखारी से जान पड़ते हैं या फिर उनका व्यवहार अजीब-सा जान पड़ता है जिसके कारण कभी-कभी लोगों की उन पर से श्रद्धा उठ जाती है पर जब लोगों के मन में धर्म के प्रति श्रद्धा व आस्था और स्वयं को आध्यात्मिक गुरु के रूप में प्रतिस्थापित करने की आवश्यकता होती है तो इन गुरुओं में प्रतिसंतुलन का तत्त्व—एक उच्चस्तरीय आध्यात्मिक अनुभूति की क्षमता थी। यह अपूर्व अलौकिक शक्ति का प्रदर्शन कर लोगों के मन में उनके व्यवहार के प्रति जो अति की भावना होती थी, उसे दूर कर सकने में सक्षम थे। परंतु आजकल के कुछ शिक्षकों में अनैतिक आचरण की तो अति है पर उनमें प्रतिसंतुलन के तत्त्व का अभाव है जो कि अलौकिक शक्ति के प्रदर्शन की क्षमता है। इसके कारण कई समस्याएँ उत्पन्न हो सकती हैं।

इसलिए एक शिष्य होने के नाते तुम्हें सबसे पहले ध्यान देकर परीक्षण करना चाहिए। जब तक तुम्हारे मन में उस व्यक्ति की ईमानदारी के प्रति विश्वास न हो जाए उसे अपना शिक्षक अथवा गुरु न मानो। यह बहुत महत्त्वपूर्ण है। फिर इसके पश्चात् भी यदि कोई अप्रिय बात

हो जाए तो तुम्हें उनका त्याग करने की पूरी छूट है। शिष्यों को यह निश्चित कर लेना चाहिए कि वे गुरु को न बिगाड़ें। यह बहुत महत्त्वपूर्ण है।

प्रश्न : मैं यहाँ बहुत ही श्रद्धापूर्वक बैठा हूँ यह सोचते हुए कि सृजनकर्ता नहीं है, ऐसा सोचना अहंकार की भावना है। फिर भी मैं जानता हूँ कि बौद्ध धर्म विनम्रता की शिक्षा देता है ? आप ऐसा क्यों सोचते हैं कि तर्क द्वारा पूर्णता को समझा जा सकता है ? क्या यह मात्र एक अन्य प्रकार का विश्वास है ? अंत में इस कथन में सहजज्ञान और भावनाओं का क्या स्थान है कि सृजनकर्ता का अस्तित्व है या नहीं ?

उत्तर : जहाँ एक सृजनकर्ता के नहीं होने का प्रश्न है ऐसा प्रतीत होता है कि बुद्ध के अपने ही ग्रंथ में इस संबंध में स्पष्ट संदर्भ हैं। उदाहरण के लिए हम प्रतीत्य समुत्पाद के ग्रंथ *शालिस्तंभ सूत्र* को लें जिसमें बुद्ध यह कहते हैं कि क्योंकि हेतुओं का निर्माण हुआ था, इस कारण प्रभाव भी जनित हुए। बाद के बौद्ध चिंतकों जैसे शांतिदेव और चंद्रकीर्ति में भी हमें इस विषय में संदर्भ मिलते हैं। अपने ग्रंथ *बोधिचर्यावतार* के नौवें अध्याय में शांतिदेव ने सुस्पष्टता से इस संबंध में अपने विचार व्यक्त किए हैं। इसी तरह चंद्रकीर्ति ने भी इस संबंध में बहुत ही स्पष्ट विचार रखे हैं। अपने ग्रंथ *प्रमाणवर्तिका* के दूसरे अध्याय में धर्मकीर्ति ने इस विषय में स्पष्ट तथा दृढ़ विचार अपनाए हैं। धर्मकीर्ति एक खास कारिका की चर्चा करते हैं जिसमें यह बताया गया है कि संपूर्ण बुद्धता प्राप्त करने वाला वह है जो परिशुद्ध बन गया है। इसलिए यह *'बनना'* शब्द यह बताने के लिए प्रयुक्त हुआ है कि किसी अनंत अथवा पूर्ण परिशुद्ध जैसे जीव पर कोई विश्वास नहीं है। बुद्ध शाक्यमुनि ने हेतुओं, प्रशिक्षण और प्रक्रिया द्वारा बुद्धता की स्थिति प्राप्त की। अतः *बनने* अथवा *'होने'* शब्द का चयन किया जाता है। यह बौद्ध धर्म का विश्वास है।

फिर, जैसा मैं हमेशा कहता हूँ कि पाँच अरब लोग हैं और विभिन्न प्रकार की विचारधाराएँ हैं। इसलिए एक तरह से देखा जाए तो

मेरे विचार से चूँकि इतनी विभिन्न विचारधाराएँ हैं तो पाँच अरब धर्म भी होने चाहिए। इसलिए यह बात बहुत स्पष्ट होनी चाहिए कि कुछ लोगों के लिए सृजनकर्ता की धारणा अधिक लाभकारी और सुविधाजनक है। अत: उन लोगों के लिए यही उचित है कि वे उसी परंपरा का पालन करें। इन सब का सारांश यह है कि यह बहुत महत्त्वपूर्ण है कि प्रत्येक व्यक्ति अपनी मानसिकता, और विश्वास के आधार पर उस आध्यात्मिक मार्ग को अपनाए जो उसके लिए उपयुक्त हो।

जहाँ तक आपके प्रश्न के दूसरे भाग का संबंध है कि सृजनकर्ता के बारे में यह सहजज्ञान अथवा भावनाएँ कहाँ से आती हैं ? इसके पीछे कुछ सामाजिक स्पष्टीकरण हो सकते हैं, तथा कुछ सांस्कृतिक पृष्ठभूमि की भी महत्त्वपूर्ण भूमिका हो सकती है। मैं इसलिए ऐसा कह रहा हूँ क्योंकि कई तिब्बती लोगों के लिए मृत्यु के पश्चात् जीवन अथवा पुनर्जन्म के प्रति सहजज्ञान बहुत स्वाभाविक है, अंतर्जात है। अत: यहाँ विवाद के लिए कोई आधार नहीं है।

सबसे महत्त्वपूर्ण बात यह है कि यदि आप किसी धर्म अथवा दर्शन का तर्क के लिए उपयोग करते हैं तो मेरे विचार से वह गलत है। उसे केवल जिएँ। बौद्ध धर्म बौद्धानुयायियों का मामला है, ईसाई मत ईसाइयों का। इस तरह यह स्पष्ट है। एक रेस्तराँ में भी एक ही टेबल पर हम अलग-अलग प्रकार का खाना खाते हैं और कोई इसको लेकर विवाद नहीं करता। यह व्यक्तिगत अधिकार हैं।

प्रश्न : यदि हमारे सभी कार्य प्रतीत्य समुत्पाद पर आधारित हैं तो हम किस तरह मुक्ति के लिए प्रयास कर सकते हैं ? क्या किसी के पास चयन की कोई संभावना है अथवा यह अगला अवश्यंभावी कदम है?

उत्तर : केवल समय पर आधारित उत्क्रांति के आधार पर पूर्ण बुद्धता के विकास अथवा मुक्ति की संभावना नहीं है। इसलिए यदि कोई पूर्ण निश्चय के साथ आत्मिक मार्ग पर चलने का निर्णय न ले तो किसी सत्व के लिए स्वाभाविक रूप से और अधिक बौद्ध रूप को प्राप्त करना संभव नहीं है।

शून्यता की चर्चा करते समय हम ग्रंथों में सोलह प्रकार की शून्यता की सूची पाते हैं। संसार की शून्यता **'आदि और अंत की शून्यता'** के नाम से जानी जाती है। इसका कारण यह है कि यदि व्यक्ति अपने स्तर पर कोई कदम नहीं उठाता तो हम प्रबुद्धता की अवस्था से कोसों दूर रहेंगे। पर यदि हम इस दिशा में कोई निश्चित कदम लें तो इस अप्रबुद्धता की अवस्था का अंत हो सकता है।

इस संदर्भ में मुझे मैत्रेय के *अभिसमयलंकार* के दूसरे अध्याय से बहुत प्रेरणा मिलती है जिसमें वे बोधिसत्व अभ्यासी की पाँच विशेषताओं की चर्चा करते हैं। उनके मतानुसार जहाँ तक तात्कालिक प्रवृत्ति का संभव है उस संबंध में एक प्रकार की निश्चितता हो सकती है—कुछ लोगों का झुकाव व्यक्तिगत मुक्ति के मार्ग की ओर अधिक हो सकता है और कुछ लोग बोधिसत्व के आदर्श महायान के आदर्श पूर्ण बुद्धत्व की प्राप्ति की ओर अधिक प्रवृत्त हो सकते हैं। जो भी हो अंततः सभी सत्व समान हैं क्योंकि सभी में तथागतगर्भता होती है। इस तरह यहाँ हम सभी सत्वों में निहित और उसे प्राप्त करने की क्षमता में अंतर कर सकते हैं।

दूसरा सत्र

यदि प्रीतिसुखं प्राप्तमन्यैः स्तुत्वा गुणोर्जितम्।
मनस्त्वमपि तं स्तुत्वा कस्मादेवं न हृष्यसि॥ 76॥

यदि आपको शत्रु की प्रशंसा होते देखकर क्रोध उत्पन्न होने लगे तो अपने चित्त को यह कहकर समझाना चाहिए कि उस शत्रु को प्रशंसा से आनंदित होते देखकर तुम भी उसका गुण गाकर आनंद क्यों नहीं लेते, जबकि गुणों की पहचान एक अच्छी बात है।

अपने और अपने संबंधियों की प्रतिक्रिया स्वरूप उत्पन्न क्रोध के विषय में समझाने के पश्चात् शांतिदेव अब उस क्रोध के विषय में चर्चा करते हैं जो उस समय हमारे मन में उत्पन्न होता है जब हम अन्य लोगों द्वारा अपने शत्रुओं की प्रशंसा सुनते हैं; पर जब अन्य लोग उन् व्यक्तियों की बहुत प्रशंसा करते हैं तो हमें अच्छा नहीं लगता। साधारणतया हम ऐसे विषयों को सुनना पसंद नहीं करते और हमारे मन में क्रोध की भावना उत्पन्न होती है। इस पर शांतिदेव हमें बताते हैं कि यह उचित नहीं। हमारा व्यवहार इस प्रकार का नहीं होना चाहिए। अपने शत्रुओं की प्रशंसा सुनकर क्रोधित होना पूर्णतया अनुचित है, क्योंकि यदि हम सावधानीपूर्वक देखें, तो जब कोई उस व्यक्ति की प्रशंसा करता है जो हमारा प्रिय है तो कम से कम उस व्यक्ति का चित्त संतुष्ट है जो उस शत्रु की प्रशंसा कर रहा है। वह व्यक्ति ऐसा कर रहा है क्योंकि उसका मन उस शत्रु को लेकर संतुष्ट है और व्यक्ति को इससे प्रसन्न होना चाहिए और यदि संभव हो सके तो उसे भी उसमें रोड़े अटकाने के बजाय उस प्रशंसा करने के कार्य में लग जाना चाहिए। किसी परिस्थिति में इस प्रकार की सोच अपने आप में प्रसन्नता का स्रोत है। यह दूसरों की मनोवृत्ति को बदलने में भी सहायक होगा, क्योंकि जो ऐसी परिस्थिति में इस प्रकार का व्यवहार कर सकता है उसे ईर्ष्या को लेकर कम समस्या होगी और ऐसा व्यक्ति जिसे ईर्ष्या को लेकर कम समस्या है वह अपेक्षाकृत अधिक सुखी होगा और उसका संग आनंदकर होगा।

इदं च ते हृष्टिसुखं निरवद्यं सुखोदयम्।
न वारितम् च गुणिभिः परावर्जनमुत्तमम्॥ 77॥

इस प्रकार का आनंद सुख का साधन है, बुद्धों तथा बोधिसत्वों ने भी इसका निषेध नहीं किया है, और दूसरे लोग भी आपके प्रति नम्र होकर कहेंगे कि अमुक आदमी ईर्ष्यालु नहीं है, वह एक अच्छा आदमी है।

तस्यैव सुखमित्येवं तवेदं यदि न प्रियम्।
भृतिदानादिविरते दृष्टादृष्टं हतं भवेत्॥ 78॥

यदि दूसरों को प्रसन्न करना नहीं चाहते तो वेतन, उपहार, खाना आदि देना अनुचित है, क्योंकि इन कार्यों का लक्ष्य दूसरों को हर्षित करना है। इस आचरण से न इस जीवन में लाभ होगा, न भावी जन्मों में कल्याण होगा।

यहाँ शांतिदेव एक अन्य तर्क का पूर्वानुमान कर कहते हैं कि कोई सहज ही इस बात का अनुभव कर सकता है कि जब कोई मेरे शत्रु की प्रशंसा करेगा तो मुझे ईर्ष्या होगी, क्योंकि वह प्रशंसा मेरे शत्रु को प्रसन्न करेगी। इसलिए निस्संदेह मेरे मन में ईर्ष्या उत्पन्न होगी और निस्संदेह मुझे वह प्रशंसा अरुचिकर लगेगी।

शांतिदेव कहते हैं कि यदि वह ईर्ष्या या क्रोध का आधार है, तब उसका अर्थ होगा कि व्यक्ति को दूसरे का सुख या प्रसन्नता, अरुचिकर है। और यदि ऐसा है तब व्यक्ति दूसरों को खुश करने के लिए इतनी मेहनत क्यों करे और दूसरों को खुश करने के लिए विभिन्न कार्य क्यों करे? यदि कोई अपने शत्रु को सुखी नहीं देख सकता तो किसी अन्य को सुखी बनाने के लिए व्यक्ति विभिन्न कार्य क्यों करे?

स्वगुणे कीर्त्यमाने च परसौख्यम्पीच्छसि।
कीर्त्यमाने परगुणे स्वसौख्यमपि नेच्छसि॥ 79॥

यह बहुत विचित्र प्रवृत्ति है कि अपनी प्रशंसा होने पर दूसरे लोग प्रसन्न हों, परंतु दूसरों के गुण कीर्तन होने पर स्वयं सुखी न हों (ईर्ष्या आदि उत्पन्न होती है)

बोधिचितं समुत्पाद्य सर्वसत्त्वसुखेच्छया।
स्वयं लब्धसुखेष्वद्य कस्मात्यत्त्वेषु कुप्यसि॥ 80॥

प्राणि मात्र के सुख दूसरों की अल्प सुख शांति देखकर प्रसन्न न होकर कोप उत्पन्न होना किसी प्रकार उचित नहीं, क्योंकि चित्तोन्माद का प्रयोजन दूसरों को सुखी करना है।

अगले श्लोक में शांतिदेव इस संबंध में एक अन्य असंगति की व्याख्या करते हैं। वह इस का संकेत देते हैं कि जब हमारी अपनी प्रशंसा होती है जब अन्य व्यक्ति हमारी प्रशंसा करते हैं, तब न केवल हम खुश होते हैं परंतु यह भी अपेक्षा करते हैं कि दूसरे भी इस प्रशंसा को सुनकर खुश हों। यद्यपि दूसरों के प्रति हमारे व्यवहार में पूर्ण असंगतता है। जब लोग दूसरों की प्रशंसा करते हैं तो उसका अनुमोदन तो नहीं करते। हम केवल दूसरों के सुख का अनुमोदन नहीं करते परंतु साथ ही साथ व्यक्ति के अपने चित्त की शांति और सुख का भी नाश हो जाता है। इस तरह स्वयं की प्रशंसा और दूसरों के प्रति की जा रही प्रशंसा में एक प्रकार की विसंगति है।

खास कर 'बोधिसत्वाभ्यासी' के लिए जिसने अपना संपूर्ण जीवन दूसरों के जीवन में खुशियाँ लाकर उन्हें सुख की परमावस्था तक पहुँचा दिया है, दूसरों की प्रसन्नता और सुख के प्रति ईर्ष्यालु होना पूर्ण रूप से अनुचित होता है। बल्कि हमें यह अनुभव करना चाहिए कि अन्य सत्व स्वयं ही अपने ही प्रयासों के फलस्वरूप यदि यहाँ-वहाँ प्रसन्नता और सुख का थोड़ा बहुत अनुभव भी कर लेते हैं तो हमें और भी अधिक कृतज्ञ होना चाहिए कि बगैर हमारी सहायता के वे इस प्रकार की प्रसन्नता और खुशी के अनुभव की प्राप्ति कर रहे हैं।

त्रैलोक्यपूज्यं बुद्धत्वं सत्त्वानां किल वांछसि।
सत्कारमित्वरं दृष्ट्वा तेषां किं परिदह्यसे॥ 81॥

यही नहीं, जब हम हर प्राणी के त्रैलोक्य पूज्य बुद्धत्व प्राप्ति की कामना करते हैं, तो क्यों दूसरों के नगण्य सत्कार को देखकर अप्रसन्नता प्रकट करते हैं।

पुष्णाति यस्त्वया पोष्यं तुभ्यमेव ददाति सः।
कुटुम्बजीविनं लब्ध्वा न हृष्यसि प्रकुप्यसि॥ 82॥

उदाहरणार्थ—जिस प्रकार कोई मित्र बंधु हैं जिसका हमें पालन

पोषण करना है, यदि वह अपनी टाँग पर खड़ा होकर हमारे बोझ को हलका कर देता है तो स्वयं प्रसन्न होना स्वाभाविक है, उसी प्रकार किसी भी प्राणी को सुख सत्कार पाते देखकर अवश्य प्रसन्न होना चाहिए।

शांतिदेव आगे यह बताते हैं कि बोधिसत्वाभ्यासी ने सभी सत्वों को अस्तित्व के परम स्थान बुद्धत्व के स्थान को जो कि तीनों लोकों के सत्वों के लिए परम आदरणीय है, में रखने का प्रण लिया है। अगर ऐसी स्थिति है तो ऐसा अभ्यासी स्वयं को दूसरों के सुख, सफलता व प्रसन्नता की अनुभूति से अपने आपको कैसे दु:खी कर सकता है? फिर वह एक उदाहरण देते हैं कि यदि ऐसे कुछ लोग हैं जिनके प्रति हम आर्थिक या भौतिक रूप से उत्तरदायी हैं और यह व्यक्ति यदि स्वयं ही अपना जीवन यापन कर लें और अपने आप ही सफलता प्राप्त कर लें तब इससे उनके कारण अन्य लोगों पर कम बोझ पड़ेगा। अत: ऐसी परिस्थितियों में हमें यह सोचकर कृतज्ञ और प्रसन्न होना चाहिए कि वे अपने पैरों पर स्वयं खड़े हो सकते हैं और अपनी जीविका के लिए स्वयं ही कार्य कर सकते हैं। इसी तरह एक बोधिचित्ताभ्यासी के तौर पर जो दैनिक तौर पर सभी सत्वों की भलाई के विषय में सोचते हैं और निरंतर प्रार्थना करते हैं तो हमें इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि जब हम सभी सत्वों की बात करते हैं तो बिना किसी अपवाद के उसमें सभी सत्व यहाँ तक कि वे भी जो हमें अप्रिय हों या जिनसे हमें खीझ उत्पन्न होती हो जैसे शत्रु आदि शामिल हों।

स किं नेच्छति सत्त्वानां यस्तेषां बोधिमिच्छति।
बोधिचित्तं कुतस्तस्य योऽन्यसंपदि कुप्यति॥ 83॥

दूसरों की ऐसी सुख शांति पर ईर्ष्या और द्वेष उत्पन्न होने पर उस प्राणि के प्रति बोधि प्राप्ति की कामना और दूसरों के सत्कार पाने पर क्रोधित होने वाले व्यक्ति के हृदय में बोधि चित्तोत्पाद कैसे हो सकता है? अर्थात् ऐसा असंभव है।

इस कारिका में शांतिदेव प्रश्न करते हैं कि यदि मैं दूसरों की सांसारिक सफलता या सांसारिक उपलब्धियों या प्रसन्नता को सहन नहीं कर सकता, तब मैं यह कैसे कह सकता हूँ कि मैं उनके पूर्ण बुद्धत्व की कामना करता हूँ ऐसे दंभी व्यक्ति के चित्त में बोधिचित्तोत्पाद का विकास हो ही नहीं सकता।

यदि तेन न तल्लब्धं स्थितं दानपतेगृहे।
सर्वथापि न तत्तेऽस्ति दत्तादत्तेन तेन किम्॥ 84॥

कोई लाभ-सत्कार पा रहा हो या उसे देने के लिए किसी दानदाता के घर में पड़े हों वह लाभ सत्कार जब हमें मिलने वाला ही नहीं तो ईर्ष्या या द्वेष करना निरर्थक है।

यहाँ शांतिदेव इस बात का संकेत दे रहे हैं कि जब अपने शत्रु को किसी से लाभ प्राप्त हो रहा हो तो ईर्ष्या करने से या उसके न चाहने से कोई लाभ नहीं। यदि हमारे शत्रु को उस परोपकारी से कुछ लाभ न भी मिले तो जहाँ तक हमारा संबंध है उससे हमें कोई फर्क न पड़ेगा; यदि हमारे शत्रु को वह वस्तु न मिले तो वह हमें नहीं दी जाएगी। जहाँ तक हमारा संबंध है वह वस्तु चाहे हमारे शत्रु को मिले या दानकर्ता के घर में पड़ी रहे, हमें कोई फर्क नहीं पड़ेगा।

किं वारयत्तु पुण्यानि प्रसन्नान् स्वगुणानथ।
लभमानो न गृह्णातु वद केन न कुप्यसि॥ 85॥

दूसरों के लाभ-सत्कार आदि के प्रति ईर्ष्या द्वेष, जैसे अनुचित व्यवहार से हमारे आदर, सत्कार तथा कीर्ति का नाश होगा, अतः वास्तव में यदि हम लाभ-सत्कार और कीर्ति चाहते हैं तो स्वयं अपनी ओर से पुष्प, श्रद्धा और अच्छा आचरण होना चाहिए, यही लाभ सत्कार नाम यश आदि का स्रोत है।

न केवलं त्वमात्मनं कृतपापं न शोचसि।
कृतपुण्यैः सह स्पर्धामपरैः कर्तुमिच्छसि॥ 86॥

दूसरों के पुण्यकर्म देखकर ईर्ष्या, द्वेष आदि उत्पन्न होने पर अपने चित्त से यह प्रश्न करना चाहिए कि तुम दुष्ट हो, अपने पाप कर्मों के प्रति अनुशौच या देखना नहीं करते, तो दूसरों के पुण्यकर्म के लिए ईर्ष्या द्वेष क्यों करते हो?

वस्तुतः सच्चे अर्थों में हम सांसारिक धन और सफलता की कामना करते हैं; दूसरों की सफलता तथा भौतिक संपत्ति के प्रति ईर्ष्या पूर्ण रूप से अनुचित है। इस ईर्ष्या के कारण वास्तव में व्यक्ति अपने ही उन सत्कार्यों या अच्छे चिह्नों को नष्ट कर देते हैं जिनके कारण हमें भविष्य में सांसारिक सफलता, भौतिक संपत्ति की प्राप्ति हो सकती है। इसलिए यदि हम वास्तव में भौतिक वस्तुओं की प्राप्ति चाहते हैं तो हमें स्वयं के प्रति क्रोधित होना चाहिए, उस व्यक्ति के प्रति, जो दूसरों की भौतिक सफलता को देखकर ईर्ष्या करता है।

आगे शांतिदेव यह कहते हैं कि जब हम अपने शत्रुओं को भौतिक दृष्टिकोण से सफल या अन्य लोगों को उनकी प्रशंसा करते हुए देखते हैं तो ईर्ष्यालु या उनके प्रति क्रोधित होने के बजाय हमें उनकी सफलता पर प्रसन्न होना चाहिए, यदि हम प्रसन्नता या दुख का अनुभव करेंगे तो यह संभव है कि हम भी उस सफलता के भागीदार बन सकें। ऐसी संभावना हो सकती है। वे यह कहते हैं कि इन सफलताओं के प्रति ईर्ष्यालु या क्रोधित होने पर न केवल व्यक्ति अतीत में किए गए अकुशल कर्मों के प्रति प्रायश्चित करने की भावना का विकास करने में ही असफल होता है बल्कि दूसरों के द्वारा किए गए सत्कर्मों के परिणामों में भी वह प्रतिस्पर्धा करता है।

जातं चेदप्रियं शत्रोस्त्वत्तुष्ट्या किं पुनर्भवेत्।
त्वदाशंसनमात्रेण न चाहेतुर्भविष्यति॥ 87॥

शत्रु को दु:ख में देखकर अपनी ओर से प्रसन्नता प्रकट करना भी निरर्थक है। मात्र कामना से हमारे सभी मनोरथ पूरे नहीं हो सकते।

अथ त्वदिच्छया सिद्धं तद्दु:खे किं सुखं तव।
अथाप्यर्थो भवेदेवमनर्थ: कोन्वत: पर: ॥ 88 ॥

तुम्हारी इच्छा के अनुकूल दूसरा दु:खी होने पर भी उसके दु:ख से तुम्हें क्या मिलने वाला है। यदि यही तुम्हारा मनोरथ है तो यह सबसे बड़ा पाप कर्म होगा।

एतद्धि बडिशं घोरं क्लेशबाडिशिकार्पितम्।
यतो नरकपालास्त्वां क्रीत्वा पक्ष्यन्ति कुम्भिषु ॥ 89 ॥

क्लेश रूपी मधुए के पाप की यह कँटिया बहुत तेज है जिससे पकड़ा जाकर नरक पाल द्वारा हम प्राणियों का नरक के कुंभों में पकना निश्चित है।

इन तीनों कारिकाओं में शांतिदेव यह प्रश्न करते हैं कि यदि हमारे कार्यों से भी हमारे शत्रुओं को दु:ख पहुँचता है तो इसमें हमारे लिए प्रसन्न होने का क्या विषय है। मात्र किसी को चोट पहुँचाने की इच्छा, केवल अपने शत्रुओं के अहित के सोचने से उस शत्रु को किसी प्रकार की चोट नहीं पहुँचती। यदि हमारे ऐसे सोचने के कारण अपने शत्रु के हिस्से में सभी असफलताएँ, सभी समस्याएँ आ भी जाएँ तो उसमें प्रसन्न होने की क्या बात है? यदि हम यह कहें कि ऐसी हालत में हमें बड़ा संतोष प्राप्त होगा तो शांतिदेव कहते हैं कि इससे अधम और क्या हो सकता है।

वह यह कहते हुए समाप्त करते हैं कि यह क्रोध या ईर्ष्या एक मधुआरे के काँटे के समान है। इस कारण हमारे लिए यह बहुत ही आवश्यक है कि हम ईर्ष्या के इस काँटे द्वारा पकड़े न जाएँ।

स्तुतिर्यशोऽथ सत्कारो न पुण्याय न चायुषे।
न बलार्थं न चारोग्ये न च कायसुखाय मे॥ 90॥

अतः लाभ, सत्कार, प्रशंसा और कीर्ति का कोई लाभ नहीं, इससे न पुण्य संचय होगा, न आयु बढ़ेगी, न शरीर में बल होगा, न निरोग होंगे और न कोई भौतिक सुख मिलेगा।

एतावांश्च भवेत्स्वार्थो धीमतः स्वार्थवेदिनः।
मद्यद्यूतादि सेव्यं स्यान्मानसं सुखमिच्छता॥ 91॥

यदि मन बहलाकर खुश करना ही मनोरथ है तो मद्य सेवन जुआ का खेल आदि दुराचरण करना अनुचित है, परंतु वास्तव में स्वार्थ सिद्ध नहीं होगा।

90 तथा 91 कारिका में शांतिदेव यह संकेत दे रहे हैं कि हमें अपने सुनाम को लेकर बहुत चिंतित नहीं होना चाहिए न ही इस बात को लेकर चिंता करनी चाहिए कि लोग हमारे बारे में क्या भला बुरा कह रहे हैं क्योंकि वास्तव में ख्याति से किसी के जीवन पर कोई गंभीर प्रभाव नहीं पड़ता। इसलिए हमारी प्राथमिकता सही होनी चाहिए और केवल सही मूल्यों को ग्रहण करना चाहिए। वे मूल्य जो सही जीवन के लिए सार्थक हों, मात्र ख्याति नहीं जो और कुछ नहीं, कुछ खोखले शब्द हैं। इसके प्रत्युत्तर में कोई यह भी कह सकता है कि जब मेरी ख्याति फैलती है और लोग मेरी प्रशंसा करते हैं तो उससे मुझे बड़ा संतोष प्राप्त होता है। यह एक प्रकार का तात्कालिक तुष्टीकरण है। परंतु यदि व्यक्ति का उद्देश्य मात्र यही है तब जैसे शांतिदेव संकेत दे रहे हैं तो इस आधार पर व्यक्ति मद्य तथा अन्य नशीले पदार्थों का सेवन भी सदा करता रह सकता है क्योंकि वे भी तात्कालिक तुष्टि देते हैं।

यशोऽर्थं हारयन्त्यर्थमात्मानं मारयन्त्यपि।
किमक्षराणि भक्ष्याणि मृते कस्य तु ततसुखम्॥ 92॥

यश स्तुति की अभिलाषा में कोई गुण नहीं परंतु अनेक दोष हैं जैसे कोई यश प्राप्ति हेतु दान करके निर्धन हो जाता है, कोई लड़ाई में जाकर प्राण त्याग करता है परंतु यश-स्तुति शब्द मात्र है, अतः निस्सार है उनसे लोक परलोक में कहीं भी कोई लाभ नहीं।

यहां शांतिदेव समझा रहे हैं कि कभी-कभी ऐसी स्थितियाँ देखने में आती हैं कि व्यक्ति केवल ख्याति प्राप्त करने के लिए अपनी सारी संपत्ति धन दौलत आदि का त्याग कर देना है, वहीं दूसरी ओर ऐसी स्थितियाँ भी हैं कि व्यक्ति प्रशंसा पाने के प्रयास में अपने प्राण भी त्याग देते हैं। यदि हम इन स्थितियों का परीक्षण करें तो पाएँगे कि वास्तव में व्यक्ति प्रशंसा से लाभान्वित नहीं होता। क्योंकि वास्तव में प्रशंसा और कुछ नहीं, खोखले शब्द हैं, खाली ध्वनियाँ हैं और एक बार व्यक्ति की मृत्यु हो गई तो उससे किसको लाभ हो सकता है। ख्याति प्राप्त करने का एकमात्र उद्देश्य संतोष प्राप्त करना था। फिर यदि जीवन का ही त्याग करना पड़े तो फिर लाभ प्राप्त करने वाला कोई नहीं रह जाता। इसलिए इस तरह प्रशंसा प्राप्त करने की यह सनक, बचकाना तथा मूर्खतापूर्ण है। लोगों पर प्रशंसा की सनक सवार हो जाती है।

यथा पांशुगृहे भिन्ने रोदित्यार्तरवं शिशुः।
तथा स्तुतियशोहानौ स्वचित्तं प्रतिभाति मे॥ 93॥

थोड़ी ही यश स्तुति (प्रशंसा) खोने पर अप्रसन्न होना बच्चों के अज्ञान चित्त की तरह है जो बालू के घर टूटने पर फूट-फूटकर रोते हैं।

इस कारिका में शांतिदेव एक सादृश्य प्रस्तुत कर रहे है: जब बच्चे समुद्र तट पर बालू के महल बनाते हैं तो वे उसे उसमें इतना डूब जाते हैं कि जब बालू का महल ढह जाता है तब वे चिल्लाने तथा रोते हैं। वे लोग जो प्रशंसा के नशे में डूबे होते हैं, वे इसी प्रकार का व्यवहार करते हैं।

शब्दस्तावदचित्तत्वात् समां स्तौतीत्यसंभवः।
परः किल मयि प्रीत इत्येतत्प्रौतिकारणम्॥ 94॥

नाम या स्तुति शब्द मात्र है, वाणी है, अवचेतन है, इसलिए यह संभव नहीं कि शब्द हमारी स्तुति करना चाहता है। यदि अपनी स्तुति से शब्दों का प्रयोग करने वाला प्रसन्न होता है। इसलिए मुझे स्तुति पसंद है ऐसा तर्क दें तो भी गलत है क्योंकि दूसरों की प्रसन्नता उसी की मनःप्रवृत्ति है, उससे हमें कुछ मिलता नहीं है।

अन्यत्र मयि वा प्रीत्या किं हि में परकीयया।
तस्यैव तत्प्रीतिसुखं भागो नाल्पोऽपि मे ततः॥ 95॥

दूसरों की प्रसन्नता उन्हीं का अनुभव है, उसे हम बाँटकर ले नहीं सकते, अतः यह व्यर्थ कामना है।

तत्सुखेन सुखित्वं चेत्सर्वत्रैव ममास्तु तत्।
कस्मादन्यप्रसादेन सुखितेषु न मे सुखम्॥ 96॥

स्तुति करने वाला प्रसन्न होने के कारण स्वयं प्रसन्न होने का तर्क देता है तो क्यों किसी की (शत्रुओं की) स्तुति पर आप क्रोधित होते हैं, जबकि उसका मन प्रसन्न हो रहा है। अतः सब प्राणियों की सुख-सुविधा देख कर प्रसन्न होना चाहिए।

तस्मादहं स्तुतोऽस्मीति प्रीतिरात्मनि जायते।
तत्राप्येवमसंबन्धात् केवलं शिशुचेष्टितम्॥ 97॥

इसलिए स्तुति से प्रसन्न होना अनुचित है, यह बाल चरित के समान है।

इन चार कारिकाओं में शांतिदेव समझा रहे हैं कि यदि कोई इस

बात पर गौर करे कि जब लोग हमारी प्रशंसा करते हैं तो कौन सी बात है जो हमें सुख देती है। यह ध्वनि नहीं क्योंकि वह तो क्षणिक होती है और कुछ अर्थों में निरुद्देश्य होती है। ध्वनि अपने आप में यह उद्देश्य नहीं रखती कि वह हमें खुश करे न ही हमारे प्रति उनके मन में स्नेह भावना होती है। अब हमारा यह विचार हो सकता है कि जब कोई हमारी प्रशंसा करता है या तारीफों के पुल बाँधता है उस समय उस व्यक्ति के मन में या हृदय में प्रसन्नता, एक संतोष भाव, एक पूर्णता होती है। इसलिए जब दूसरे मेरी प्रशंसा करते हैं तो मुझे प्रसन्नता होती है। परंतु यदि ऐसा है तो जहाँ तक उस व्यक्ति के चित्त की प्रसन्नता का संबंध है वह उस व्यक्ति के हृदय तक सीमित रहता है तब तक वह हमारी संतति का एक अंग नहीं है। तो हम वास्तव में किस तरह उस सुख के आनंद में भाग ले सकते हैं। और अगर प्रत्युत्तर में हम यह कहें कि तथ्य यह नहीं है, तो बात यह है कि किसी के द्वारा की गई इस प्रशंसा से एक व्यक्ति को सुख तथा प्रसन्नता मिलती है अर्थात् जो मेरी प्रशंसा करता है, तब हमें उसी तरह की प्रसन्नता क्यों नहीं मिलती जब कोई हमारे शत्रु की प्रशंसा करता है? कम से कम उस व्यक्ति का चित्त अथवा हृदय जो हमारे शत्रु की प्रशंसा कर रहा है सुख से तथा आनंद से भरा हुआ है। इसलिए 97 कारिका में वह इनका समापन करते हैं कि प्रसन्नता या सुख जो इस सोच से जन्म लेती है कि मेरी प्रशंसा हो रही है, अमान्य है। यह एक बच्चे जैसा व्यवहार है।

स्तुत्यादयश्च मे क्षेमं संवेगं नाशयन्त्यमी।
गुणवत्सु च मात्सर्यं संपन्कोपं च कुर्वते॥ 98॥

स्तुति, यश तथा सत्कार आदि हमारे चित्त को भ्रमित करते हैं, सांसारिक जीवन से विमुख नहीं होने देते, गुणवानों के प्रति मत्सर उत्पन्न करते हैं और अपने पुण्यकर्म या समृद्धि का नाश करते हैं।

तस्मात्स्तुतियादिघाताय मम ये प्रत्युपस्थिताः।
अपायपातरक्षार्थं प्रवृत्ता ननु ते मम॥ 99॥

और दूसरे शब्दों में, हमारी निंदा करके प्रशंसा के अहंकार को नष्ट करने वाले लोग वास्तव में हमारी दुर्गति में पतन से रक्षा करने वाले हैं।

यहाँ शांतिदेव यह स्पष्ट कर रहे हैं कि दूसरों द्वारा प्रशंसित किए जाने की, कई हानियाँ तथा विध्वंसात्मक परिणाम हैं। सबसे पहला तो यह कि जब कोई बहुत प्रसिद्ध हो जाता है, जब कोई उसकी बहुत प्रशंसा करने लगता है तो इसके अभ्यास में खलल पड़ता है क्योंकि जब कोई बहुत ख्याति प्राप्त कर लेता है तो बहुत प्रसिद्ध हो जाने के कारण उसके पास समय नहीं होता। यही नहीं इसके कारण हम अपने अस्तित्व की अर्थहीनता पर भी अधिक बल नहीं देते क्योंकि जैसे ही व्यक्ति प्रसिद्ध होता है तो उसे सब कुछ ठीक जान पड़ता है। ज़ब कोई सांसारिक अस्तित्व के विषय में सोचता है तब उसके मन में यह विचार उठ सकता है कि इसमें कोई बुराई नहीं बल्कि यह तो आनंददायी है। इसमें खतरा यह है कि जब ऐसा व्यक्ति सांसारिक अस्तित्व की बुराइयों तथा कमियों के विषय में पढ़ता है जो संभवत: सूने स्थानों में निवास कर रहे अकिंचन साधकों द्वारा लिखा गया होगा, जिन्हें संसार की वास्तविकता के विषय में कुछ भी ज्ञान न था। तो यहाँ संसार की असंतुष्ट प्रकृति के महत्त्व को न सराहने का प्रश्न उठ सकता है। फिर तीसरा जैसे-जैसे व्यक्ति प्रसिद्ध होता जाता है और लोग उसकी प्रशंसा करते हैं तो यह संभव है कि उसमे अहंकार भर जाए। जैसे-जैसे व्यक्ति का अहं अधिक होता है वह उतना अधिक गर्वीला होता जाता है क्योंकि संसार की दृष्टि में वह एक सफल व्यक्ति है। यद्यपि हम भिखारियों में ईर्ष्या की भावना देख सकते हैं परंतु सफलता के साथ ईर्ष्या भी अधिक होती जाती है, कुछ भी हो ईर्ष्या की भावना सफलता के आधिक्य के साथ-साथ और गहन होती जाती है।

इस तरह दूसरों द्वारा प्रशंसा किए जाने के यह संभावित खतरे हैं। व्यक्ति को इन बातों पर चिंतन करना चाहिए क्योंकि अंतत: इन्हीं कारणों से व्यक्ति का आध्यात्मिक विकास बाधित हो सकता है।

मुक्त्यर्थिनश्चायुक्तंमे लाभसत्कारबंधनम्।
ये मोचयन्ति मां बन्धाद द्वेषस्तेषु कथं मम्॥ 100॥

हम यश या सत्कार के अभिलाषी नहीं, परंतु मोक्ष के इच्छुक हैं, हमें लाभ सत्कार के बंधन नहीं, मोक्ष की प्राप्ति चाहिए, अतः इसमें सहायता करने वालों पर क्रोध क्यों?

दुःखं प्रवेष्टुकामस्य ये कपाटत्वमागताः।
बुद्धाधिष्ठानत इव द्वेषस्तेषु कर्थ मम॥ 101॥

शत्रु हमारी निंदा करके लाभ सत्कार के मोह के पतन के द्वार का पट बंद कर हमारी रक्षा करता है। वह बुद्ध वरदान के बराबर है। अतः उस पर क्रोध होना उचित नहीं।

साधारणतया बौद्ध साहित्य में हमें मानवीय अस्तित्व के आदर्श रूप का वर्णन मिलता है जो उन आठ गुणों से पूर्ण होते हैं जिसके कारण व्यक्ति का अस्तित्व पूर्ण होता है। इसमें भौतिक वस्तुओं की प्राप्ति सांसारिक सफलता आदि शामिल हैं। यह सब परिस्थितियाँ अनुकूल मानी जाती हैं यदि कोई उनका प्रयोग सृजनात्मक ढंग से करे तब तो यह बहुत लाभकारी होती हैं। वह व्यक्ति न केवल उसके आध्यात्मिक मार्ग में सहायक होता है परंतु साथ ही अन्य सत्वों के कल्याण के लिए उसके कार्य को और भी प्रभावशाली बनाता है। यद्यपि जहाँ एक ओर व्यक्ति के पास धन, पदवी, शिक्षा इत्यादि की सुविधाएँ प्राप्त हैं, वहीं दूसरी ओर यह भी महत्त्वपूर्ण है कि कुछ आंतरिक नियंत्रण के तत्त्व हों जो व्यक्ति को नियंत्रण में रख सके ताकि वह इन सुविधाओं से बिगड़ न जाए और इस भवचक्र में निहित उस असंतुष्ट रूप के आधारभूत तत्त्व को भूले नहीं। ऐसी स्थिति में इन सब सुविधाओं के प्रति व्यक्ति का व्यवहार उचित परिप्रेक्ष्य में होगा और मार्ग में एक साधन के समान अन्य सत्वों की भलाई के लिए प्रयुक्त होगा। यह बहुत आवश्यक है कि अति की ओर न जाकर संतुलन बनाए रखें,

साथ ही इस बात का भी ज्ञान रखें कि इस रास्ते पर किस तरह उत्तम व प्रभावशाली ढंग से चला जाए।

यदि हम इन तथ्यों से अवगत रहें तब उन व्यक्तियों को जो सांसारिक उपलब्धियों, सांसारिक धन-संपदा, ख्याति, पदवी आदि की प्राप्ति के मार्ग में बाधक बनते हैं उन्हें हम शत्रु के समान नहीं बल्कि एक रक्षक के समान देख सकते हैं क्योंकि यह हमें बुद्धत्व प्राप्ति के मार्ग में निहित खतरों से बाधित होने से बचाते हैं।

इसलिए कारिका 100 तथा 101 में शांतिदेव हमें स्मरण दिलाते हैं, हमें अपने परम उद्देश्य को भुलाना नहीं चाहिए। हमारा परम उद्देश्य दु:ख से विमुक्ति है—निर्वाण है। इसलिए हमें भौतिक प्राप्ति या सफलता को बंधक नहीं बनाना चाहिए। इसलिए हम उन व्यक्तियों, जैसे हमारे शत्रु के प्रति, क्रोधित क्यों हो क्योंकि वास्तव में वे तो हमें इस बंधन से मुक्ति दिलाने में हमारे सहायक हैं? शांतिदेव बता रहे हैं कि वास्तव में वह व्यक्ति जो कर रहे हैं वह बुद्ध के आशीर्वाद के समान है क्योंकि अपने कार्यों द्वारा वे हमें उस मकान में प्रवेश करने से बचा रहे हैं जो दुर्भाग्यपूर्ण अस्तित्व के कमरे में प्रवेश कराता है। एक अर्थ में वे उस दरवाजे पर ताला लगा रहे हैं जो अन्यथा हमें दु:ख की ओर ले जाता है। इसलिए ऐसे व्यक्तियों के प्रति हमारे हृदय में क्रोध की भावना नहीं आनी चाहिए।

पुण्यविघ्न: कृतोऽनेनेत्यत्र कीपो न युज्यते।
क्षान्त्या समं तपो नास्ति नन्वेतत्तदुपस्थितम्॥ 102॥

पुण्य कर्म में वह शत्रु विघ्न डालता है इसलिए मुझे उस पर क्रोध आता है, ऐसा तर्क देना भी उचित नहीं, क्योंकि क्षमा से बढ़कर कोई पुण्य नहीं और वह शत्रु आपकी क्षांति पारमिता के अभ्यास का साधन है, फिर क्षमा न करके उस पर क्रोध क्यों?

102 कारिका में शांतिदेव इस प्रतिक्रिया के विषय में यह बता रहे कि यदि हमारा शत्रु उसके कार्यों द्वारा हमारे पुण्य या सद्गुणों को नष्ट

करता है तब हमारा क्रोध न्यायोचित है। वह उत्तर देते हैं कि यह कारण भी पर्याप्त तर्कसंगत नहीं कि हम अपने शत्रु के प्रति क्रोधित हों। क्योंकि पुण्यसंचय तथा सद्गुणों के चिह्न का सबसे उत्तम अभ्यास प्रेम तथा करुणा का अभ्यास है। यही धर्माभ्यास का सही रूप है। प्रेम तथा करुणा के अभ्यास में पूर्ण सफलता के लिए क्षांति तथा सहिष्णुता का अभ्यास अनिवार्य है। इसलिए क्षांति के समान धर्म नहीं और क्षांति से बड़ा अभ्यास नहीं। हमें शत्रु के कार्यों के प्रति क्रोधित नहीं होना चाहिए बल्कि इस अवसर को क्षांति तथा सहनशीलता के विकास के लिए प्रयोग में लाना चाहिए।

अथाहमात्मदोषेण न करोमि क्षमामिह।
मयैवात्र कृतो विघ्नः पुण्यहेतावुपस्थिते॥ 103॥

अपने क्रोध, द्वेष आदि दोषों के कारण उन पर क्रोधित होना अपने ही पुण्यकर्म में विघ्न डालना है, क्योंकि वह शत्रु आपके सामने क्षांति अभ्यास के सभी साधन जुटा रहा है।

यहाँ यह बताया गया है कि यदि मुझे यह अवसर दे भी दिया जाए, यदि अपनी ही कमियों के कारण मैं अपने शत्रुओं के प्रति क्षांति के अभ्यास में असफल होकर क्रोधित होऊँ तो मैं स्वयं ही क्षांति के अभ्यास द्वारा पुण्यार्जन का अवसर खो रहा हूँ। इसलिए इस अर्थ में हम स्वयं ही क्षांति के कारण का नाश कर रहे हैं।

योहि येनविना नास्ति यस्मिंश्चसतिविद्यते।
स एव कारणं नस्य कथं विघ्न उच्यते॥ 104॥

किसी प्रकार के फल के लिए उसका हेतु होना आवश्यक है, अर्थात् हेतु और फल का संबंध ऐसा है कि एक होने के कारण, दूसरे की उत्पत्ति होती है। कारण से फल मिलता है, कारण के बिना कोई फल नहीं होता। इसलिए शत्रु जैसे कारण होने पर ही क्षांति-पारमिता

जैसा फल मिलना संभव है, बिना शत्रु के क्षमा-अभ्यास असंभव है। अतः हम यह कैसे कह सकते हैं कि यह शत्रु हमारे पुण्य अर्जन में विघ्न डालता है।

इस कारिका में, शांतिदेव संक्षिप्त रूप में कारण की परिभाषा दे रहे हैं। उनका कहना है कि यदि इसके बगैर कुछ नहीं घट सकता और यदि इसके साथ कुछ हो सकता है तो वही घटना या कार्य का कारण हो सकता है। क्षांति के परिप्रेक्ष्य में शत्रु के कार्य के बिना क्षांति या सहनशीलता का उत्पन्न होना संभव नहीं है। अतः क्षांति के अभ्यास के अवसर हेतु शत्रु का कार्य आवश्यक तत्त्व है। इसलिए हम ऐसा कैसे कह सकते हैं कि शत्रु हमारे क्षांति के अभ्यास में बाधक है? वस्तुतः क्षांति के अभ्यास के लिए शत्रु एक आवश्यक तत्त्व है।

न हि कालोपपन्नेन दानविघ्नः कृतोऽर्थिना।
न च प्रव्राजके प्राप्ते प्रवज्याविघ्न उच्यते॥ 105॥

उचित समय पर आया याचक दान में विघ्न नहीं डालता, जैसे समय पर प्रव्रजित का आना प्रव्रज्या का विघ्न नहीं कहा जा सकता।

तत्पश्चात् शांतिदेव एक याचक का उदाहरण देते हैं जो वास्तव में दान का अधिकारी है। हम यह नहीं कह सकते कि ऐसा याचक दान के अभ्यास में विघ्न डालता है। इसी तरह, हम यह कैसे कह सकते हैं कि वह गुरु जो धर्मोपदेश और व्रत दे रहा है वह धर्मोपदेश में बाधक कैसे बन सकता है?

सुलभा याचका लोके दुर्लभास्त्वपकारिणः।
यतो मेऽनपराधस्य न कश्चिद पराध्यति॥ 106॥

अश्रमौपार्जितस्तस्माद् गृहे निधिरिवोत्थितः।
बोधिचर्यासहायत्वात् सपृहणीयौ मया रिपुः॥ 106॥

संसार में याचक सुलभ हैं, परंतु अपने द्वारा कष्ट पहुँचाए बिना अपकार करने वाले कम हैं, अर्थात् हमारे क्षमा-अभ्यास के साधन बहुत दुर्लभ हैं। अतः बिना परिणाम के अपने घर में उपलब्ध धन निधि के समान बोधिचर्या अभ्यास में सहायता देने वाले शत्रु के प्रति स्नेह रखना चाहिए।

इन दोनों कारिकाओं में शांतिदेव यह बता रहे हैं कि दानशीलता के अभ्यास हेतु इस संसार में कई याचक हैं। हालांकि तुलना में क्षांति के अभ्यास के अवसर बहुत कम हैं। उसका कारण है कि किसी शत्रु के लिए हमें चोट पहुँचाने की प्रक्रिया में जब तक हम उसे उकसाते नहीं वास्तव में हमें कोई चोट नहीं पहुँचती, उसके लिए पारस्परिक व्यवहार की आवश्यकता होती है। इसलिए हमें जब ऐसा अवसर मिले तो हमें उसे बहुत कृतज्ञता से स्वीकार करना चाहिए। जैसे किसी को अपने ही घर में, एक खजाना मिले, हमें खुश होकर एक ऐसे अनमोल अवसर को प्रदान करने के लिए अपने पुत्र के प्रति कृतज्ञ होना चाहिए।

मया चानेन चोपात्तं तस्मादेतत्क्षमाफलम्।
एतस्मै प्रथमं देयमेतत्पूर्वा क्षमा यतः॥ 108॥

यही नहीं, वे हमारे शत्रु अपने क्षांति-अभ्यास के मुख्य कारण हैं और इस क्षमा के पुण्य में दोनों के बराबर अधिकार हैं, इसलिए उस पुण्य की परिणामना सर्वप्रथम उस शत्रु के लिए करनी चाहिए।

इस कारिका में शांतिदेव यह संकेत देते हैं कि हम जब भी क्षांति और सहिष्णुता के अभ्यास में सफल होते हैं तो उसका कारण हमारा अपना प्रयास और हमारे शत्रु द्वारा दिया गया अवसर है। इसलिए हमें इसे मान कर अपने क्षांति के अभ्यास के फल को अपने शत्रु की भलाई के लिए समर्पित कर देना चाहिए।

क्षमासिद्धयाशयो नास्यतेन पूज्यो न चेदरिः।
सिद्धिहेतुरचित्तोऽपि सद्धर्मः पूज्यते कथम्॥ 109॥

यहाँ पर यह प्रश्न कर सकते हैं कि उन शत्रुओं के मन में हमारी क्षमा साधना की इच्छा नहीं है, इसलिए उनकी इस तरह पूजा क्यों करें? यह विचार तर्क संगत नहीं है। उस साधन की ओर से कल्याण-भाव आवश्यक है, तो निरोध आदि धर्म रत्न की पूजा करना भी निरर्थक हो जाएगी, क्योंकि वह भी अचेतन है।

यहाँ शांतिदेव यह स्वीकार करते हैं कि कोई यह सोच सकता है कि मैं अपने शत्रु की पूजा क्यों करूँ? मुझे क्षांति के अभ्यास के लिए इस प्रकार का अवसर देने का कोई उद्देश्य नहीं था। यदि ऐसी स्थिति है तो धर्म जो कि त्रिरत्न में से एक है, की भी पूजा नहीं करनी चाहिए, क्योंकि सच्चा धर्म मार्ग के निरोध की बात करना है। और जहाँ तक निरोध तथा पंथ का प्रश्न है, उनकी ओर से हमारी सहायता की कोई कामना नहीं है। फिर भी हम उन्हें आदर तथा सम्मान की वस्तुएँ मानते हैं। इसलिए यहाँ पर जो महत्त्वपूर्ण बात है, वह है प्रभाव, दूसरे तथ्य का उद्देश्य नहीं।

अपकाराशयो ऽस्येति शत्रुर्यदि न पूज्यते।
अन्यथा मे कथं क्षान्तिर्भिषजीव हितोद्यते॥ 110॥

यदि शत्रु हमारे प्रति हानि पहुँचाने की इच्छा करता है तो हम कैसे उसकी पूजा करें? ऐसा प्रश्न करना भी गलत है। हानि पहुँचाने के कारण ही शत्रु कहा जाता है, और शत्रु होने के कारण उसके प्रति द्वेष या क्रोध उत्पन्न होता है और जिस पर क्रोध या द्वेष उत्पन्न होता है, वही क्षमा का साधन है। वैध आदि हितैषी आचरण वाला है। उन पर कैसे द्वेष उत्पन्न हो सकता है और यदि देखा या क्रोध नहीं तो क्षमा कैसे?

तददुष्टाशयमेवातः प्रतीत्योत्पद्यते क्षमा।
स एवातः क्षमाहेतुःपूज्यः सद्धर्मवन्मया॥ 111॥

अतः द्वेष जैसे दुष्ट भावनाओं के कारण ही क्षमा उत्पन्न होती है जो क्षांति पारमिता का हेतु है, इसलिए शत्रुओं की सद्धर्म के समान पूजा करनी उचित है।

4

चौथा दिन

प्रथम सत्र

सत्वक्षेत्रं जिनक्षेत्रमित्यो मुनिनोदितम्।
एतानाराध्य बहवः संपत्पारं यतो गताः॥ 112॥

इसी कारण भगवान ने सत्व क्षेत्र और बुद्ध क्षेत्र ये दो पुण्य अर्जन के आधार बनाए हैं, और इनकी आराधना करके असंख्य साधकों ने संपूर्ण पारमिता प्राप्त की है।

उन सत्वों जैसे कोई शत्रु या वे लोग जो दूसरों को चोट या पीड़ा पहुँचाते हैं इनसे व्यक्ति में क्षांति तथा सहिष्णुता द्वारा अत्यधिक पुण्य के संचयन का अवसर प्राप्त होता है। इसलिए बुद्ध ने पुण्य संचयन के दो क्षेत्र—बुद्ध क्षेत्र तथा सत्व क्षेत्र की चर्चा की। यह उस अर्थ में क्षेत्र हैं कि वे एक ऐसे आधार या स्रोत का कार्य करते हैं जिनसे हम पुण्य का संचय कर सकते हैं।

सत्त्वेभ्यश्च जिनेभ्यश्च बुद्धिधर्मागमे समे।
जिनेषु गौरवं यद्वन्न सत्त्वेष्विति कः क्रमः॥ 113॥

इस प्रकार जब प्राणी तथा बुद्ध दोनों हमारे पुण्यकर्म सिद्धि में

बराबर सहयोग देते हैं तो एक ओर बुद्धों की पूजा करना, दूसरी ओर प्राणियों का अनादर करना, कहाँ तक उचित है? दोनों का आदर करना चाहिए।

112 कारिका में शांतिदेव का कथन है कि जो इस तथ्य को समझकर सत्वों को खुश रखते हैं वे संपूर्ण पारमिता की स्थिति को प्राप्त कर लेंगे। चूँकि ऐसी स्थिति है इसलिए हम पाते हैं कि दोनों ही बुद्ध जिन्होंने संपूर्ण पारमिता प्राप्त की है और सत्व दोनों तथ्यों या परिस्थितियों के दृष्टिकोण से एक समान हैं।

आशयस्य च माहात्मयं न स्वतः किं तु कार्यतः।
समं च तेन माहात्म्यं सत्वानां तेन ते समाः॥ 114॥

परंतु इसका यह तात्पर्य नहीं कि हर माने में दोनों एक बराबर हैं, भगवान ज्ञान तथा परोपकार जैसे चित्त गुणों से सर्वोत्तम हैं, फिर भी उनकी आराधना करने का फल बुद्धगुणों की प्राप्ति में समान गुण है, इसलिए ऐसा कहा गया है।

मैत्र्याशयश्च यत्पूज्यः सत्वमाहात्म्यमेव तत्।
बुद्धप्रसादाद्यत्पुण्यं बुद्धमाहात्म्यमेव तत्॥ 115॥

इसके अतिरिक्त बुद्ध तथा प्राणी दोनों की अपनी कुछ विशेष महिमा भी है— जैसे असंख्य प्राणियों के प्रति करुणा तथा मैत्री भावना रखने की पूजा से पुण्य मिलना सत्वों की महिमा है और श्रद्धा से पुण्य होना बुद्धों की महिमा है।

बुद्धधर्मागमांशेन तस्मात्सत्वा जिनैः समाः।
न तु बुद्धैः समाः केचिदनन्तांशैर्गुणार्णवैः॥ 116॥

अतः बुद्ध गुण प्राप्ति के संबंध में योगदान होने में समानता है,

परंतु अनंत समुद्र जैसे गुणसागर बुद्धों की तुलना असंभव है।

गुणसारैकराशीनांगुणोऽणुरपिचेत्क्वचित्।
दृश्यते तस्य पूजार्थं त्रैलोक्यमपि न क्षमम्॥ 117॥

बुद्धधर्मोदयांशस्तु श्रेष्ठः सत्त्वेषु विद्यते।
एतदंशानुरूप्येण सत्त्वपूजा कृता भवेत्॥ 118॥

फिर भी उस सर्वोत्तम गुण-निधि बुद्ध के गुणों का एक सूक्ष्म अंश भी यदि किसी में है तो उसकी पूजा के लिए संपूर्ण त्रिलोक की वस्तु उपहार भी अपर्याप्त है, और प्राणियों में बुद्ध-गुण उत्पत्ति का श्रेष्ठ अंश विद्यमान है, इसलिए यह अनुमान लगा सकते हैं कि सत्वों की पूजा करना उचित है।

इन कारिकाओं में शांतिदेव संकेत करते हैं कि यदि हम बोधिचित्त और एक सहृदय को पूजा योग्य मान लें, तब हमें सत्वों को भी पूजा के योग्य समझना चाहिए। क्योंकि बोधिचित्त की महानता और सहृदयता सत्वों की महानता से आती है। यदि हम उन पुण्यों को जो हमें बुद्ध के प्रति श्रद्धा भाव के कारण को सद्गुण समझें तो वह बुद्ध की महानता के कारण हैं। इसलिए इस बात पर बल दिया जाता है कि बुद्ध तथा अन्य सत्व बराबर हैं। वास्तव में सत्वों के योगदान का प्रतिकार नहीं दिया जा सकता चाहे हम तीनों लोकों की भौतिक संपदा को बुद्ध के लिए समर्पित क्यों न कर दें। वह यह निष्कर्ष निकालते हैं कि कम से कम हमारे प्रति उनको दयाभाव का आधार काफी है कि हम जीवों के प्रति श्रद्धाभाव रखें और उनका सम्मान करें।

किं च निश्छद्मबन्धूनामप्रमेयोपकारिणाम्।
सत्वाराधनमुत्सृज्य निष्कृतिः का परा भवेत्॥ 119॥

सत्वों को इतना महत्त्वपूर्ण समझने के और भी कारण हैं, बुद्धों

तथा बोधिसत्वों को प्राणि हित से बढ़कर कोई कार्य नहीं, इसलिए बुद्धों एवं बोधिसत्वों के प्रति कृतज्ञता के ऋण चुकाने का सर्वश्रेष्ठ साधन प्राणियों का उपकार है।

भिदन्ति देहं प्रविशन्त्यवीची येषां कृते तत्र कृते कृतं स्यात्।
महापकारिष्वपि तेन सर्वं कल्याणमेवाचरणीयमेषु॥ 120॥

बुद्धों तथा बोधिसत्वों ने, मार्ग अभ्यास के समय जिनके कल्याण के लिए अपने शरीर का त्याग किया और अवीचि नरक में भी सहर्ष प्रवेश किया, उनके ऋण चुकाने के लिए दूसरों के द्वारा अनेक अपकार किए जाने पर भी हर प्रकार आदर तथा उपकार करना चाहिए।

स्वयं मम स्वामिन एव तावद्यदर्थमात्मन्यपि निर्व्यपेक्षाः।
अहं कथं स्वामिषु तेषषु तेषु करोमि मानं न तु दासभावम्॥ 121॥

जब अपने प्रभु तथा गत ने भी इन प्राणियों के उपकार के लिए शरीर की भी चिंता नहीं की तो हमें भी अवश्य उन शक्तिशाली स्वामियों का दास समझकर सेवा करना उचित है।

येषां सुखे यान्ति मुदं मुनीन्द्रा येषां व्यथायां प्रविशन्ति मन्युम्।
तत्तोषणांन्सर्व मुनीन्द्रतुष्टिस्तत्रापकारेऽपकृतं मुनीनाम्॥ 122॥

कोई सत्व सुखी हों तो भगवान प्रसन्न होते हैं और कोई दु:खी हो तो अप्रसन्न होते हैं। प्राणियों को प्रयत्न करना भगवान को संतुष्ट करना है और उनका अपकार भगवान के अपकार के समान है, इसलिए सत्वों का अपकार नहीं करना चाहिए।

इन चार कारिकाओं में शांतिदेव यह तर्क देते हैं कि यदि हम वास्तव में बुद्धों के प्रति प्रत्युपकार की भावना रखना चाहते हैं और उनकी पूजा करना चाहते हैं तो सत्वों को प्रसन्न करने के अतिरिक्त और

कोई अन्य उपाय नहीं है। वास्तव में सत्वों की भलाई और उनके कल्याण की भावना ही बुद्धों को अत्यंत प्रिय लगता है। यहाँ तक कि यदि कोई सत्वों की सेवा करता है तो बुद्ध प्रसन्न होते हैं और यदि कोई उन्हें दु:ख पहुँचाता है तो बुद्ध अप्रसन्न होते हैं। इसलिए यदि कोई अपने सत्कर्मों द्वारा बुद्धों को प्रसन्न करने के प्रयास में पूर्ण रूप में निष्ठावान है तो इसका सबसे उत्तम उपाय, अन्य सत्वों के प्रति सम्मान की भावना रख उनके दयालुपन को स्वीकारना है। इसका संक्षेपीकरण वह इस रूप में करते हैं।

आदीप्तकायस्य यथा समन्तान् न सर्वकामैरपि सौमनस्यम्।
सत्वव्यथान्यामपि तद्वदेव न प्रीत्युपायोस्ति दयामयानाम्॥ 123॥

जैसे आग की लपट में जलते हुए आदमी को काम-भोग की कोई भी सुविधा सुख नहीं दे सकती; उसी प्रकार प्राणियों की हानि करके बुद्धों को संतुष्ट करने का कोई भी उपाय नहीं है।

अगली तीन कारिकाएँ इस प्रकार हैं :

तस्मान्मथा यज्जन दु:ख देन दु:खं कृतं सर्व महाकृपाणाम्।
तदध पापम् प्रतिदेशयामि यत्खेदितास्तन्मुनय: क्षमन्ताम्॥ 124॥

अत: अब तक प्राणियों के अपकार के कारण भगवान तथागत के अप्रसन्न होने की पाप देशना करके बुद्धों से क्षमा याचना करनी चाहिए।

आराधनाध्य तथा गतानां सर्वत्मना दास्यन्मुपैपि लोके।
कुर्वन्तु मे मूर्ध्नि पदं जनौधा विघ्नन्तु वा तुष्यतुन्लोकनाथ: ॥ 125॥

और साथ ही साथ यह प्रतिज्ञा करनी चाहिए कि तथागतों को प्रसन्न करने के लिए जगत् का सेवक बनूँगा और यदि असंख्य प्राणी मेरे माथे पर चढ़ जाएँ या प्राण भी लें, पर मैं इनका अपकार नहीं

करूँगा; अतः अब तथागत मुझसे प्रसन्न हों यही प्रार्थना करता हूँ।

आत्मीकृतंसर्वमिदं जगत्तैः कृपात्मभिर्नैव हि संशयोऽस्तिः।
दृष्यन्त एते मनु सत्वरूपास्त एव नाथाः किमनादरोऽत्र॥ 126॥

इसमें संदेह नहीं कि तथागतों ने परात्म परिवर्तन (स्वयं और दूसरों के स्थानांतरण) अभ्यास के द्वारा अपना लिया है इसलिए साधारण प्राणियों को तथागत का स्वरूप मानकर आदर करना आवश्यक है।

फिर वह इस तरह अन्त करता है :

तथागत्तााराथनमेतदेव स्वार्थस्य संसाधनमेतदेव।
लोकस्य दुःखापह मेत देव तस्मान्ममास्तु व्रतमेव देव॥ 127॥

इस प्रकार सत्वों के प्रति आदर और उनके द्वारा की जाने वाली हानि पर क्षमा का अभ्यास करने का यही आचरण तथागतों की आराधना है। यही अभीष्ट स्वार्थ की सिद्धि भी है और यही प्राणियों का दुःख निवारक भी है, इसलिए सदा हमें इसका अभ्यास करना चाहिए।

यर्येको राजपुरुषः प्रमघ्नाति महाजनम्।
विकतुं नैव शक्नोति दीर्घदर्शी महाजनः॥ 128॥

यस्मान्नैव स एकाकी तस्य राजबलं बलम्।
तथा न दुर्बलं कंचिद पराद्धं विमानयेत्॥ 129॥

यस्मान्नरक पालाश्च कृपा वन्तश्च तद्रबलम्।
तस्मा दारा घयेत्सत्वान् भृत्यश्चण्ड नृपं यथा॥ 130॥

जैसे कोई राजपुरुष अनेक लोगों को कष्ट पहुँचाता है परंतु कोई भी दूरदर्शी व्यक्ति सक्षम होते हुए भी उसका विरोध नहीं करता, क्योंकि

राजशक्ति उसके पीछे है। उसी प्रकार बहुत दुर्बल प्राणियों का भी अपमान नहीं करना चाहिए, क्योंकि नरकपाल तथा कृपालु बुद्ध उनके पीछे हैं। अतः हमें उस राजा के सेवक की तरह प्राणियों को संतुष्ट करना चाहिए।

कुपितः किं नृपः कुर्याद्येन स्यान्नरकव्यथा।
यत्यस्वदौर्मनस्येन कृतेन ह्यनुभूयते॥ 131॥

तुष्टः किं नृपतिर्दद्याद्यदबुद्धत्व समं वेत्।
यत्यत्वसौमनस्येन कृतेन ह्यनुभूयेत॥ 132॥

परंतु वास्तव में राजा को खुश करना और प्राणियों के उपकार में बहुत अंतर है— क्योंकि राजा कितना भी हम पर क्रुद्ध क्यों न हो, वह प्राणी अपकार के फल नरक में नहीं गिरा सकता और राजा संतुष्ट होने पर भी हमें प्राणियों का कल्याण करने के फलस्वरूप मिलने वाला बुद्धत्व नहीं दे सकता।

आस्तां भविष्यद्रबुद्धत्वं सत्वाराधनसंभवम्।
इहैव सौभाग्ययशः सौस्थित्यं किं न पश्यसि॥ 133॥

सत्वों के उपकार से भविष्य में बुद्धत्व प्राप्त होना निश्चित है और इसी जीवनकाल में भी हमें नाम, यश, सुख-शांति जैसे सुफल वास्तव में देखने को मिलते हैं। अतः हमें प्राणियों का उपकार करना चाहिए।

और अंतिम कारिका इस प्रकार है :

प्रासादि कत्वमारोग्यं प्रामोघं चिर जीवितम्।
चक्रवर्तिसुखं स्फीतं क्षमी प्राप्नोति संसरन्॥ 134॥

निःश्रेयस् (बुद्धत्व)प्राप्ति के पूर्व सांसारिक जन्मांतर में भी प्राणी

कल्याण और क्षांति के फल 'अभ्युदय जन्म' के सुंदर रूप, आरोग्य, दीर्घायु, यश और चक्रवर्ती राजा के तुल्य सुख समृद्धि प्राप्त होता है। इसलिए हमें यथासंभव क्षमा अभ्यास करना अति आवश्यक है।

इसी के साथ शांतिदेव द्वारा विरचित बोधिचर्यावतार का छठा परिच्छेद 'क्षांतिपारमिता' समाप्त होता है।

ध्यान

अब हम विचारशून्यता पर ध्यान लगाएँ। यह वह अवस्था नहीं जबकि चित्तपूर्ण से शून्य या सुप्त सा रहता है। बल्कि तुम्हें सबसे पहले विचारशून्यता की स्थिति बनाए रखने के निश्चय को उत्पन्न करना होगा। साधारणतया हमारा चित्त मुख्य रूप से बाहरी वस्तुओं के प्रति आकर्षित होता है। हमारा ध्यान और हमारी एकाग्रता हमारे ऐंद्रिक अनुभवों पर आधारित होती है और केवल इंद्रियों तथा धारणात्मक स्तर पर रहती है। इसलिए अपने चित्त को अंदर की ओर खींच कर उसे सांसारिक वस्तुओं के पीछे जाने न दो। साथ ही इतना भी अंदर न खींचो कि एक प्रकार की आलस्य-भावना घिर जाए, तुम्हें अपने चित्त को पूर्ण रूप से सचेत व जागरूक बनाना होगा। तत्पश्चात् अपने चित्त की इस सहज स्वाभाविक अवस्था जो अतीत के विचारों, घटनाओं और यादों से ग्रसित नहीं होता और न ही भविष्य के विचारों, जैसे भविष्य की योजनाओं, भय और आशाओं से भी ग्रसित नहीं होते। बल्कि स्वाभाविक स्थिति में रहने का प्रयास करो।

यह एक ऐसी नदी के समान है जिसकी धारा तेज़ है और जिसमें नदी का तल दिखाई नहीं देता। यदि कोई ऐसा उपाय हो जिससे हम नदी का प्रवाह रोक पाएँ तो हमारे लिए नदी का तल देख पाना संभव हो पाएगा।

ठीक इसी तरह यदि हम अपने चित्त को भी सांसारिक वस्तुओं

का पीछा करने से बचा कर रखें और अपने चित्त को पूर्णरूप से मुक्त रखें तो हम विचारों के प्रवाह की अस्त-व्यस्तता के नीचे एक प्रकार की स्थिरता पाएँगे, और चित्त का सुस्पष्ट रूप दिखाई देगा। तुम्हें इस प्रकार का प्रयास करना चाहिए यद्यपि प्रारंभिक स्तर पर ऐसा कर पाना बहुत कठिन है। खासकर प्रारंभ में चूँकि ध्यान केंद्रित करने के लिए कोई विशिष्ट वस्तु नहीं होती इसलिए सो जाने का खतरा है।

प्रारंभिक अवस्था में जब तुम चेतना की स्वाभाविक अवस्था की अनुभूति करने लगोगे तो वह एक प्रकार की शून्यता, अभाव अथवा खालीपन के रूप में होगा। इसका कारण यह है कि हम बाहरी वस्तुओं के संदर्भ में चित्त को समझने के इतने आदी हो चुके हैं कि हम संसार को अपनी धारणाओं, छवियों इत्यादि के आधार पर ही समझ सकते हैं। इसलिए जब तुम अपने चित्त को बाहरी वस्तुओं से पीछे खींच लेते हो तो ऐसा लगता है कि तुम स्वयं अपने चित्त को पहचान नहीं पाते। एक प्रकार का अभाव, एक प्रकार का खालीपन नज़र आता है। पर धीरे-धीरे जैसे तुम्हारा अभ्यास बढ़ता है और तुम आदी होते जाते हो तब तुम एक प्रकार की स्पष्टता, एक प्रकार की चमक देख पाओगे। यही वह अवस्था है जब तुम चित्त की स्वाभाविक अवस्था की अनुभूति कर उसे समझ पाओगे।

पर हमें उस अवस्था को शून्यता की अनभूति अथवा शून्यता पर साधना की अवस्था नहीं मानना चाहिए। न ही तुम्हें इस प्रकार की भ्रांति हो कि यह कोई महान साधना की अनुभूति है। बौद्धों और अबौद्धों दोनों के लिए यह एक समान है विशेषकर उच्च स्तरीय एकाग्रता की साधना में जिसे 'निराकार चित्त की स्थिति' आकाश सम, अनंत, चेतना के नाम से भी जाना जाता है। चेतना के विभिन्न स्तर हैं जिनमें एक प्रकार की एकाग्रता और स्थिरता रहती है और जिसमें स्थिरता और शांत भावना और अधिक शक्तिशाली होती है। पर यह भी साधना की बहुत गंभीर अवस्थाएँ नहीं हैं।

साधना का प्रारंभ सरल श्वसन अभ्यास से करें। दाएँ और बाएँ नथुनों पर केंद्रित कर तीन बार अन्दर बाहर साँस लें और अपना पूरा ध्यान श्वास पर लगाएँ। केवल तीन बार श्वास के अंदर लेने, बाहर

फेंकने के प्रति जागरूकता बरतें। फिर साधना प्रारंभ करें।

प्रश्न : परम पावन दलाई लामा जी तथा अन्य गुरुजन हमें इस बात की चेतावनी देते हैं कि हमें सदा दूसरों की सांसारिक उपलब्धियों, प्रसन्नता तथा प्राप्ति को देखकर सच्ची प्रसन्नता होनी चाहिए जैसा कि शांतिदेव के छठे अध्याय तथा आनंद के मार्ग में चर्चित है। परंतु यदि हम निश्चित रूप से यह जानते हों कि अमुक व्यक्ति ने झूठ, चोरी, छल, कपट जैसे दुर्गणों द्वारा कुछ प्राप्त किया हो तो ऐसे लोगों के लिए प्रसन्नता किस रूप में अनुभूत तथा व्यक्त की जा सकती है?

उत्तर : आपका यह कथन बिलकुल उचित है कि सतही सफलता जो अनुचित ढंग से जैसे झूठ, चोरी, छल द्वारा प्राप्त की गई हो उसके प्रति हमारी प्रसन्नता के व्यवहार तथा वह प्राप्ति जो सच्चाई तथा ईमानदारी पर आधारित हो उसमें अंतर होना चाहिए। यहाँ यदि तुम इस बात पर ध्यान दो कि यद्यपि तात्कालिक परिस्थितियों के कारण जनित व्यक्ति का सुख तथा प्रसन्नता जीविका का गलत ढंग हो सकता है : परंतु उस सुख का वास्तविक कारण उस व्यक्ति के पूर्वार्जित पुण्य कर्म हैं। इस तरह हमें तात्कालिक परिस्थितियों तथा दीर्घकालिक कारणों में अंतर समझना चाहिए।

कर्म सिद्धांत की एक विशिष्टता यह है कि कारण तथा कार्य में एक निश्चित आनुपातिक संबंध है। अकुशल कार्य या दुष्कर्मों का परिणाम सुख या प्रसन्नता हो ही नहीं सकता। पारिभाषिक रूप से भी सुख व प्रसन्नता सत्कर्मों के ही परिणाम हैं। इसलिए उस दृष्टिकोण से हमारे लिए तात्कालिक कार्यों की सराहना करने की अपेक्षा प्रसन्नता के वास्तविक कारणों को सराहना संभव है।

प्रश्न : अन्याय की स्थिति में, क्या हम उसे स्वीकार कर अपनी क्षांति के लिए उपयोग में लाएँ अन्यथा जिस सामाजिक व्यवस्था के कारण ऐसा है उसे परिवर्तित करने का प्रयास करें? संतुलन कहाँ है?

उत्तर : हाँ, निश्चित रूप से हमें स्थिति में परिवर्तन लाने के लिए

पहल करनी चाहिए। इसमें मुझे कोई संदेह नहीं है। शांतिदेव के उपदेश यद्यपि आज से कई शताब्दियों पूर्व लिखे गए थे, परंतु आज के हमारे समाज को बदलने के लिए उसका प्रयोग शक्ति के स्रोत के रूप में किया जा सकता है। शांतिदेव हमें पूर्ण रूप से दबे रहने या निष्क्रिय रह कर कुछ भी न करने की सलाह नहीं दे रहे, बल्कि हमें क्षांति तथा धैर्य का अभ्यास करना चाहिए, तत्पश्चात उसका प्रयोग स्थिति को बदलने के लिए शक्ति के रूप में किया जाना चाहिए।

प्रश्न : जब कोई मेरा अहित करता है, तो वह मुझे याद रहता है, फिर बाद में उसे याद कर मुझे बार-बार क्रोध आता है। मैं इससे कैसे बच सकता हूँ?

उत्तर : जैसे मैं प्राय: कहा करता हूँ जिस व्यक्ति ने तुम्हारे अंदर यह क्रोध उत्पन्न किया है, यदि तुम उसे एक अन्य दृष्टिकोण से देखो, तो तुम्हें उस व्यक्ति में अन्य कई सद्‌गुण दिखाई देंगे साथ ही यदि तुम उस घटना को ध्यान से देखोगे जिसके कारण प्रारंभ में तुम्हारे अंदर क्रोध उत्पन्न हुआ था, उसने भी तुम्हें कुछ अवसर दिया है जो अन्यथा तुम्हारे अपने दृष्टिकोण से भी तुम्हें न मिल पाता। इस तरह तुम एक ही घटना को विभिन्न दृष्टिकोणों से देख सकते हो। परंतु यदि तुम्हारे प्रयासों के बाद भी यदि तुम्हें इस व्यक्ति के कार्य में कोई परिप्रेक्ष्य नहीं दिखाई देता तो ऐसी स्थिति में उत्तम यही होगा कि उसे भूलने का प्रयास किया जाए।

प्रश्न : क्या परम पावन, शून्यता की अनुभूति, प्रतीत्य समुत्पाद तथा क्षांति के संबंध में आगे कुछ कहेंगे? शून्यता की अनुभूति तथा प्रतीत्य समुत्पाद की अनुभूति के बिना क्या क्षांति का अभ्यास मात्र सतही रहेगा?

उत्तर : यहाँ सतही शब्द को भी विभिन्न परिप्रेक्षों में समझा जा सकता है। एक गहन चिंतन अभ्यास के स्तर पर क्षांति का कोई भी अभ्यास उसके पूरक तत्त्वों, प्रज्ञा तथा शून्यता की समझ के बिना, एक सीमा तक सतही रहेगा, क्योंकि वह क्रोध तथा ईर्ष्या का आमूल विनाश

नहीं कर सकता। यद्यपि इसका यह अर्थ नहीं कि क्षांति के अभ्यास को प्रारंभ करने के लिए हमें शून्यता की अनुभूति की प्रतीक्षा करनी पड़ेगी। यह मेरा आशय नहीं है।

महायान साहित्य में भी यह उल्लिखित है कि अनेक ऐसे बोधिसत्व हैं जिन्हें गहन अनुभूतियाँ हैं परंतु उन्हें शून्यता की अनुभूति नहीं है। समस्या यह है कि यदि हम ऐसे बोधिसत्व को ढूँढ़ने का प्रयास करें तो ऐसा व्यक्ति मिल पाना काफी कठिन होगा। मेरे विचार से तिब्बती लोगों में कुछ ऐसे हैं जिन्हें बोधिचित्त की गहन अनुभूति है। मेरे अपने ही मित्रों में एक है, जिसने चित्त स्थिरता की स्थिति प्राप्त कर ली है। उसके अनुसार उसने यह चित्त स्थिरता चार महीनों में प्राप्त कर ली जो कि वास्तव में आश्चर्यजनक है। पर साथ ही साथ उसने मुझसे यह भी कहा कि वह बोधिचित्त के विकास में कठिनाई का अनुभव करता है। इसलिए तंत्रयान में उसकी विशेष रुचि नहीं है क्योंकि बोधिचित्त के बिना तंत्रयान का अभ्यास निरर्थक है। इसलिए उससे बातचीत में, मैंने अपने अभ्यास की चर्चा संक्षिप्त रूप में की। चूँकि हम दोनों में घनिष्ट मित्रता हो गई इसलिए उसने अपने अनुभव मुझे बताए, अन्यथा ऐसे व्यक्ति कभी दिखावा नहीं करते। मुझ जैसे अनुभवहीन व्यक्ति कभी-कभी दिखावा पसंद करते हैं।

प्रश्न : क्या किसी विद्यार्थी के लिए यह संभव है कि उसका शिक्षक तिब्बती हो और वह अपने शिक्षक से वर्ष में एक या दो बार ही मिल सके?

उत्तर : यह बिलकुल संभव है परंतु महत्त्वपूर्ण बात यह है कि उस व्यक्ति में शिक्षक के न्यूनतम गुण होने चाहिए। एक और महत्त्वपूर्ण बात यह है कि शिक्षक से केवल परम महत्त्वपूर्ण प्रश्न ही पूछे जाएँ, न कि बेतुके प्रश्न।

प्रश्न : यदि कुछ स्थितियाँ, भ्रांति या प्रभाव किसी व्यक्ति को दूसरों का अहित करने पर बाध्य कर दे या वह विवेकहीन होकर कार्य करे तब ऐसी स्थिति में दूसरे उसे उस कार्य के लिए कब दंड दें?

उत्तर : यहाँ मैं यह महत्त्वपूर्ण समझता हूँ कि निवारण के रूप में दंड देना या मात्र किए गए कार्य के प्रतिकार के रूप में दंड देने में अंतर समझ लेना महत्त्वपूर्ण है। ऐसा प्रतीत होता है कि भविष्य में ऐसे कार्यों को रोकने के लिए किसी को दंडित करने में औचित्य है।

प्रश्न : बड़े शहरों में हम अनजान लोगों से मिलते हैं जिनसे हम केवल एक बार ही मिलते हैं, उनसे हमारी भेंट फिर कभी नहीं होती। हम उनके प्रति उदासीन रहते हैं। ऐसे अल्पकालीन भेंट में करुणा का क्या कोई विशिष्ट रूप है?

उत्तर : दूसरे व्यक्ति के प्रति करुणा अथवा प्रेम की भावना उत्पन्न करने के लिए यह आवश्यक नहीं है कि हम उस व्यक्ति को पहले से ही जानते हों। अगर यह बात होती तो जब तक तुम स्वयं प्रबुद्ध नहीं होते तब तक अगणित जीवों के कारण सार्वभौमिक स्तर पर करुणा उत्पन्न कर सकने की संभावना ही नहीं रहती।

यह सभी वस्तुओं के गतिशील तथा अनित्य प्रकृति के प्रति जागरूकता उत्पन्न करने के अनुरूप है। अगर इस अनुभूति के लिए प्रत्येक प्राणी तथा घटना को जानना आवश्यक है, तो यह असंभव होगा। हालाँकि एक सार्वभौमिक दृष्टिकोण से यह समझना संभव है कि सभी सत्व तथा घटनाओं के पीछे कोई कारण है और यह सभी अनित्य तथा परिवर्तनशील है। इस प्रकार तुम एक सार्वभौमिक दृष्टिकोण अपनाकर उनकी अनित्य प्रकृति के विषय में समझ सकते हो। इसी तरह तुम इस बात को भी समझ सकते हो कि वे सभी अनुभव जो दोषयुक्त कार्यों के कारण जनित हैं, अंततः असंतोषजनक होते हैं। इस अनुभूति के लिए तुम्हें प्रत्येक अनुभव से गुजर कर यह सोचने की आवश्यकता नहीं है कि यह असंतोषजनक है और वह संतोषजनक है। इस अनुभूति को और सार्वभौमिक रूप में उत्पादित किया जा सकता है।

इसी तरह सार्वभौमिक करुणा उत्पन्न करते समय तुम सभी सत्वों के प्रति यह सोचकर करुणा की भावना उत्पन्न कर सकते हो कि वे सभी सत्व जिनमें दुःख तथा सुख के अनुभव की शक्ति है तथा जो जीवन को बहुमूल्य मानते हैं, उनके अंदर सुख प्राप्त करने और दुःख

को दूर करने की अंतर्जात सहज इच्छा होती है। इसलिए मेरी इच्छा यह है कि वे अपनी आकांक्षा पूरी करें और इसमें मैं उनकी सहायता कर सकूँ। इस तरह एक व्यक्ति सार्वभौमिक करुणा की भावना उत्पन्न कर सकता है।

प्रश्न : यदि कोई लामरिम तथा जोगचेन का अध्ययन तथा अभ्यास कर रहा है; तो क्या इदम अथवा अनुत्तर योग तंत्र की कोई आवश्यकता अथवा उद्देश्य है?

उत्तर : जोगचेन ध्यान में रत रहने के लिए सर्वोच्च योग तंत्र से संबंधित प्रारंभिक शक्ति तथा आशीर्वाद की आवश्यकता है। इसलिए जोगचेन के सफल अभ्यास के लिए सर्वोच्च योग तंत्र के अभ्यास की आवश्यकता है। ऐसा संभव हो सकता है कि कुछ शिक्षक जोगचेन तथा प्रारंभिक अभ्यास की शिक्षा देते समय यह संकेत न दें कि अमुक शिक्षा किसी विशिष्ट तंत्र से जुड़ी है। परंतु जब हम निंगमा शब्दावली के तीन योग महा, अनु और अति के अंतर के विषय में चिंतन करते हैं, तो हमें यह समझना होगा कि यह तीन वर्गीकरण वास्तव में सर्वोच्च योग तंत्र में पाए जाते हैं।

प्रश्न : क्या परम पावन प्रबुद्धता की स्थिति को प्राप्त करने में एकांत की भूमिका को समझाएँगे? यह मठवासीय जीवन से किस रूप में मिलता जुलता है?

उत्तर : वास्तव में देखा जाए तो कुछ मठ मेरे विचार से कुछ अधिक ही व्यस्त रहते हैं। पहले मठों में बहुत महान साधक रहते थे जिनसे मेरे मित्र परिचित हैं। गहन अभ्यास हेतु और अधिक एकांत के इन साधकों के लिए एक ऐसा उपाय निकाला था जिससे वे अपने कमरों में इस प्रकार ताला लगाते थे जिससे वह अंदर से चाबी निकाल लें। इस तरह बाहर से तो ऐसा लगता है कि मानो व्यक्ति कमरे में नहीं है। इस तरह वे जिस प्रकार का एकांत चाहते वह उन्हें मिल जाता। इनमें से कुछ साधक तो साधना के बहुत उच्च स्तर पर पहुँच गए। वास्तव में इनमें से कुछ तो सर्वोच्च योग तंत्र की पूर्णावस्था कहलाने की स्थिति

तक पहुँच गए हैं।

मठ के लिए तिब्बती भाषा का शब्द है 'गोम्पा'; जिसके व्युत्पत्ति मूलक अर्थ में यह निहित है कि यह शहर से अलग एक एकाकी स्थान है। इसी कारण तिब्बत के कुछ मठों में ऐसे कड़े नियम बनाए गए थे जिसके अनुसार मठों में कुत्तों के रखने की अनुमति नहीं थी क्योंकि उनके भौंकने से शोर होता; धार्मिक विधियों के लिए भी न तो घंटियाँ बजाई जा सकती थीं, न करताल बजाए जा सकते थे, न हथढोल बजाए जा सकते थे और न ही ढोल पीटे जा सकते थे। वहाँ तर्क किए जाने वाले आंगन में केवल लोगों द्वारा धर्म के विषय में चर्चा की आवाज ही सुनाई देती थी। इसके अतिरिक्त शोर मचने वाले अन्य किसी भी क्रिया कलाप की सख्त पाबंदी थी।

आजकल दुर्भाग्यवश लोग यह सोचते हैं कि यदि किसी मठ में कोई धार्मिक कर्मकांड नहीं होता जैसे कि ढोल का बजना, करताल का बजना या फिर घंटियों का बजना तो मानो यह मठ पूरा नहीं है। दुर्भाग्यवश यह एक गलत धारणा है। मठ साधना से भरे हुए होने चाहिए और साधना में आत्मानुशासन की भावना होनी चाहिए। इसके अभाव में मठ किसी अन्य संस्था के ही समान हैं।

प्रश्न : इस समय बोधिसत्व के व्रतों के पालन का निश्चय करने से पूर्व मुझे किन बातों के विषय में सोचना होगा? मैं मार्ग में चलते हुए पतित नहीं होना चाहता और छह पारमिताओं का अभ्यास करना चाहता हूँ, परंतु मेरे मन में शंका है कि क्या मैं इसके योग्य हूँ?

उत्तर : कल मैं बोधिसत्व के व्रत धारण के लिए अनुष्ठान करूंगा जो कि व्रत धारण करने से अलग है। आपके लिए यही उचित होगा कि आप बोधिसत्व व्रत धारण के बजाय बोधिचित्तोत्पादन करें।

मैं आपकी विशिष्ट परिस्थितियों के विषय में तो नहीं जानता पर यदि आप उन लोगों में से हैं जो बुद्ध धर्म से साधारण रूप से परिचित हैं, खासकर महायान मार्ग से और आपने महायान अभ्यासों के रूप पर गहरा चिंतन किया है उनकी बात अलग है, अन्यथा यदि आप पहली

बार बोधिसत्व के अभ्यास से परिचित हो रहे हैं तो बुद्धिमानी इसी में होगी कि अभी आप बोधिसत्व के व्रतों को ग्रहण न करें।

प्रश्न : संघ वैयक्तिक रूप तथा सामूहिक रूप से दूसरों की सेवा के लिए क्या कर सकता है?

उत्तर : यह एक बहुत ही कठिन समस्या है क्योंकि पाश्चात्य देशों के भिक्षु-भिक्षुणियों खासकर भिक्षुणियों के लिए कोई भी प्रतिस्थापित विश्वसनीय आधार प्रणाली नहीं है। अत: यह एक ऐसी समस्या है जिस पर हमें गंभीर रूप से विचार करना होगा। यद्यपि कोई वैयक्तिक स्तर पर यदि कोई भिक्षु या भिक्षुणी सामाजिक सेवा कर सकते हैं तो यह अत्यंत प्रशंसनीय व उत्तम है क्योंकि वास्तव में वही आध्यात्मिक प्रयास का उद्देश्य है।

हमारे ईसाई भाई-बहनों के समान, ईसाई भिक्षु तथा भिक्षुणियाँ समाज सेवा से बहुत गहरे रूप से जुड़े हुए हैं प्रमुख रूप से शिक्षा के क्षेत्र में तथा स्वास्थ्य के क्षेत्र में। बौद्ध भिक्षु तथा भिक्षुणियों में पारंपरिक रूप से इस प्रकार का अभ्यास अभी भी कम है। इसलिए जैसे ही हम भारत आए तभी मैंने अपने मठाधिकारियों से यह आग्रह किया था कि अंतत: हमारे भिक्षु तथा भिक्षुणियों को इन दोनों क्षेत्रों में कार्य करना चाहिए। परंतु अभी तक इस क्षेत्र में बहुत ही कम प्रतिक्रिया हुई है। फिर कुछ पाश्चात्य बौद्ध भिक्षु तथा भिक्षुणियाँ भी हैं। यद्यपि योरोप और ऑस्ट्रेलिया में यहाँ-वहाँ कुछ संस्थाएँ हैं पर फिर भी अभी कुछ कठिनाइयाँ हैं। निस्संदेह कुछ समय लगेगा।

इसलिए मैं इन पाश्चात्य भिक्षु-भिक्षुणियों की वास्तव में प्रशंसा करता हूं जो इतनी कठिनाइयों के बाद भी उत्साहपूर्वक अपने व्रत का पालन कर रहे हैं। पिछले मार्च में धर्मशाला में एक बहुत ही सफल सभा हुई थी; इसमें कई भिक्षुणियों ने भाग लिया था जिनमें से कुछ यहाँ मौजूद हैं। उन्होंने अपनी कठिनाइयाँ सामने रखीं। उनकी बातें सुनकर दिल भर गया। वे बहुत ही कार्यकुशल हैं और उनमें अपने श्रोताओं के हृदयों को छूने की शक्ति है।

प्रश्न : क्या आप उस व्यक्ति को कुछ सुझाव दे सकते हैं जिसने अपने जीवन के उत्तरार्द्ध में बौद्ध धर्म अपनाया है और जटिल धर्म ग्रंथों को पढ़ कर उनका अभ्यास कर रहा है?

उत्तर : इसमें चिंताजनक कोई बात नहीं है। इस संबंध में हमारे पास एक ऐतिहासिक पूर्वोदाहरण है जिससे आप शक्ति तथा उत्साह ग्रहण कर सकते हैं। बुद्ध के समय में फेलगे नाम का एक गृहस्थ था। अस्सी साल की आयु में धर्माचरण के प्रति उसके मन में गहरी रुचि उत्पन्न हुई। परिणामस्वरूप उसके पुत्रों तथा पोते-पोतियों ने उसकी हँसी उड़ाई और उसका अपमान किया। अंत में उसने गृहस्थ का जीवन त्याग कर संन्यास ग्रहण कर लिया। बल्कि अस्सी साल की आयु में वह धर्मानुभूति के उच्च स्तर पर पहुँच गया।

जब मेरे वरिष्ठ गुरु लिंग रिनपोछे ग्याठो मठ के मठाधिपति बने तब उनके पूर्ववर्ती गुरु बहुत ही ज्ञानी तथा अच्छे संन्यासी थे। पर पच्चीस वर्ष की आयु तक वे दोप-दोप या मूढ़ संन्यासी थे। उनकी शिक्षा या कुछ सीखने में कोई रुचि नहीं होती बस वे इधर से उधर जाने में या खेलने में रुचि रखते हैं। ऐसे संन्यासियों को हम दोप-दोप संन्यासी कहते हैं। कभी-कभी तो वे केवल मठ में ही नहीं बल्कि शहर में भी अशांति फैलाते हैं; कभी-कभी वे झगड़ा करते हैं। यहाँ तक कि वे तलवार का भी प्रयोग करते हैं जो कि मूर्खता है, बदमाशी है।

यह व्यक्ति इसी प्रकार का था। पच्चीस वर्ष की आयु तक वह इसी प्रकार बना रहा। फिर अचानक उसमें परिवर्तन हुआ और उसने अपना सारा ध्यान पढ़ाई की ओर लगा दिया और एक उच्च कोटि का विद्वान बना। इस प्रकार की कहानियाँ हमें आशावान बनाती हैं।

मेरे विचार से प्राचीन समय के कई विद्वानों और कई गुरुओं को अपने प्रारंभिक जीवन में कई कठिनाइयों का सामना करना पड़ा। तत्पश्चात तीस, चालीस, पचास वर्ष की आयु में उन्होंने गहन अभ्यास किया और महान शिक्षक बने। ऐसी कई कहानियाँ हैं। इस तरह यद्यपि बुढ़ापे में शारीरिक शक्ति कम हो जाती है परंतु मनुष्य का दिमाग अपेक्षाकृत ठीक रहता है।

फिर इसके अतिरिक्त बौद्ध धर्म में पुनर्जन्म सिद्धांत का भी विश्वास है। चूँकि बौद्ध धर्म में पुनर्जन्म का सिद्धांत है इसलिए किसी भी कार्य में देर का प्रश्न ही नहीं उठता। यदि मृत्यु के एक वर्ष पूर्व भी तुम प्रारंभ करो तो पुनर्जन्म सिद्धांत के कारण तुम्हारे प्रयास का फल व्यर्थ नहीं जाता। उनकी निरंतरता अगले जन्म में भी बनी रहेगी।

महान शाक्य पंडित कुंगा ग्याल्त्सेन का कहना है कि ज्ञान एक ऐसी वस्तु है जिसका विकास किया जाना चाहिए, जिसकी प्राप्ति का प्रयास किया जाना चाहिए फिर चाहे अगले दिन ही मृत्यु क्यों न होने वाली हो। अगले जन्म में तुम उसे फिर से प्राप्त कर सकते हो, मानो तुमने किसी को कुछ सुपुर्द किया हो। परंतु जो पुनर्जन्म में विश्वास नहीं करते उनके लिए यह तर्क बेतुके हैं।

प्रश्न : परम पावन, बौद्ध धर्म में प्रार्थना की धारणा को स्पष्ट करें। सृजनकर्ता के न होने के आधार के कारण प्रार्थना किसको संबोधित की जाती है?

उत्तर : दो प्रकार की प्रार्थनाएँ हैं। मेरे विचार से प्रार्थना वास्तव में अधिकतर हमारे दैनिक अभ्यास में स्मरण दिलाने का कार्य करती हैं इसलिए यह कारिकाएँ प्रार्थना के समान प्रतीत होती हैं जबकि वास्तव में वे हमें इस बात का स्मरण कराती हैं कि हम दैनिक जीवन में किस प्रकार बातचीत करें, समस्याओं से, अन्य लोगों से कैसे निपटें इत्यादि। उदाहरण के लिए मेरे अपने निजी अभ्यास में यदि मैं आराम से करूँ तो करीब चार घंटे लगते हैं जो कि काफी लंबा समय है। मेरे अभ्यास का अधिकांश भाग करुणा, क्षमा तथा शून्यता के पुनरावलोकन में बीतता है। और जहाँ तक मेरा संबंध है मेरा अधिकतर समय देवी देवताओं, मंडलों और उससे जुड़े तांत्रिक अभ्यास जिसमें मृत्यु तथा पुनर्जन्म की भावना में लगता है। अपने दैनिक अभ्यास में मैं आठ बार देवी देवताओं के मंडल, देव समुदाय योग तथा मृत्यु, पुनर्जन्म तथा मध्यवर्ती स्थिति की भावना करता हूँ। इसलिए आठ बार मृत्यु का अर्थ आठ बार पुनर्जन्म है। मेरे लिए आठ बार मृत्यु की तैयारी अपेक्षित है। जब वास्तव में मृत्यु आएगी तब मैं नहीं जानता कि मुझे सफलता मिलेगी या नहीं।

फिर प्रार्थना के कुछ अंश बुद्ध से अनुरोध के रूप में है। यद्यपि हम बुद्ध को एक सृजनकर्ता के रूप में नहीं मानते पर साथ ही साथ हम उन्हें एक ऐसा उच्चतर सत्व मानते हैं जिन्होंने अपना शुद्धीकरण कर लिया। अतः उनमें एक विशिष्ट शक्ति, अनंत शक्ति या ऊर्जा है। एक तरह से फिर इस प्रकार की प्रार्थना में बुद्ध के प्रति किया गया अनुरोध सृजनकर्ता ईश्वर के प्रति किए गए अनुरोध के समान ही है।

दूसरा सत्र

संपादक की टिप्पणी : उपदेश के अंतिम चरण में परम पावन ने प्रतीत्य समुत्पाद के बारह अंगों पर एक प्रवचन प्रस्तुत करने हेतु उपदेश का अंत प्रश्नोत्तर सत्र से प्रारंभ किया।

प्रश्न : किसी अनुभूति को पूर्ण रूप से समझने के लिए तथा उसके प्रति करुणा भावना उत्पन्न करने हेतु क्या हमें उस यथार्थ को झेलने की आवश्यकता है? उदाहरणार्थ इस कमरे में उपस्थित कई लोगों ने गरीबी, राजनैतिक दमन आदि को नहीं झेला है। इसका क्या अर्थ है कि हमें अपने टेलीविजन सेटों, अखबारों से हटकर इन अनुभवों के निकट जाना होगा? क्या इस प्रकार उदासीनता प्रतिसंतुलित हो पाएगी?

उत्तर : प्रारंभिक अवस्था में यदि तुम दुःखपूर्ण परिस्थितियों को प्रत्यक्ष रूप से देख सको तो करुणा के विकास में उसका प्रभाव और गहन होगा। परंतु दुःख पर चिंतन के और भी ढंग हैं। उदाहरणार्थ जैसा मैंने पहले संकेत दिया कि प्रत्यक्ष रूप से किसी को दुःखी देखकर तुम्हारे अंदर परानुभूति तथा करुणा की भावना उत्पन्न हो सकती है यद्यपि तुम स्वयं उस अवस्था से नहीं गुजरे। साथ ही साथ हम उन लोगों के प्रति भी करुणाशील हो सकते हैं जो अकुशल कार्यों में लगे हुए हैं क्योंकि

वे अपने कार्यों से ऐसी परिस्थितियों व कारणों को जन्म दे रहे हैं जो बाद में अवांछनीय परिणामों का कारण बनेंगी। अंतर मात्र समय का है। एक स्थिति में वे वास्तव में दुख तो नहीं झेल रहे परंतु वे दुख के कारण की अवस्था में हैं। तुम उनके प्रति करुणा की भावना उत्पन्न कर सकते हो।

जैसा मैंने पहले कहा कि दु:ख के भी विभिन्न स्तर हैं। उदाहरण के लिए पारंपरिक रूप में जिन अनुभवों को हम सुखदायक अनुभव मानते हैं वे वास्तव में विपरिणाम के दु:ख हैं। इसमें संसार के असंतोषजनक अस्तित्व की आधारभूत भावना निहित है। इस तरह एक बार तुम दु:ख के गहरे स्तर की अनुभूतियों के आधार पर करुणा की भावना का विकास कर लो तो करुणाशील कार्यों के प्रति प्रेरित होने के लिए तात्कालिक अनुभवों की आवश्यकता नहीं है।

प्रश्न : आप कहते हैं कि दूसरों के प्रति सहिष्णुता तथा दया की भावना और दूसरों को हानि न पहुँचाना करुणा है। क्या यह आवश्यक नहीं कि करुणा की भावना हमें क्रियाशील रूप से उन लोगों की ओर उन्मुख करे जिन्हें सहायता की आवश्यकता है, जैसे बीमार लोगों की पीड़ा को कम करने, या जो अत्यधिक निर्धन हैं, या जो अन्याय के शिकार हैं उनकी सहायता का प्रयास? यदा कदा बौद्ध धर्म पर यह आरोप लगाया गया है कि उसने समाज में व्याप्त दु:ख की उपेक्षा की है। इस संदर्भ में टिप्पणी करें।

उत्तर : मेरे विचार से यह कुछ अंशों तक सच है। जैसा मैंने पहले कहा बौद्ध भिक्षु-भिक्षुणियों को अपने ईसाई भाई-बहनों के समान सामाजिक कार्यों में और क्रियाशील होना चाहिए। उदाहरणार्थ थाइलैंड की अपने पहली यात्रा के दौरान शायद 1960 में मैंने इस विषय में प्राधिधर्माध्यक्ष से चर्चा की थी और उन्होंने यह कहा था कि विनय सूत्रों के अनुसार यह भी सच है कि भिक्षु-भिक्षुणियों को समाज से दूर रहना चाहिए। यह सच है और मेरा कहना भी सच है। इसलिए मैंने समझाया विनय सूत्र की बात सच है परंतु साथ ही साथ हमारे अभ्यास का उद्देश्य ही परोपकार है। इसलिए व्यावहारिक स्तर पर यदि हम और अधिक

सहायता कर सकें तो वह लाभप्रद होगा।

हमें मठवासीय जीवन के आधारभूत सिद्धांतों को नज़रअंदाज़ नहीं करना चाहिए जो यह है कि जहाँ तक अपने लाभ की बात है हमें कम से कम उलझना चाहिए। दूसरी ओर जहाँ एक दूसरों की सेवा का प्रश्न उठता है तब हमें जितना हो सके उतना अधिक सम्मिलित होना चाहिए।

प्रश्न : क्या बौद्धानुयायी प्रचार का या अन्य देशों में प्रचारकों को भेजने का कार्य करते हैं? आज चारों ओर इतनी अधिक आध्यात्मिक भूख है। यदि आप प्रचारक नहीं भेजते तो क्या इसका कोई कारण है?

उत्तर : मेरे विचार से अशोक के समय कुछ धर्म प्रचारक थे। परंतु मूलत: बौद्ध परंपरा में प्रचार का या धर्म परिवर्तन के लिए प्रचारकों को भेजने या धर्म परिवर्तन संबंधी आंदोलन पर कोई बल नहीं है जब तक कोई स्वयं उपदेश के लिए नहीं आता। तब उसे समझाना हमारा कर्त्तव्य या उत्तरदायित्व बनता है। पुराने ज़माने की बात कुछ और थी परंतु आज विश्व सिमट गया है और आज मैत्री भावना की बहुत आवश्यकता है। अत: मेरे मत से बौद्ध प्रचारकों का प्रश्न ही नहीं उठता। परंतु दूसरे धर्मों के धर्म प्रचार के संबंध में भी मेरे मन में किंचित संकोच है। यदि एक पक्ष अपने धर्म का प्रचार करता है और दूसरा पक्ष भी वही करता है तो वहाँ संघर्ष की संभावना है। इसलिए मेरे मतानुसार यह अच्छी बात नहीं है।

मेरी मान्यता यह है कि पाँच अरब मनुष्यों में बहुत ही कम लोग ऐसे हैं जो सच्चे हृदय से विश्वास करते हैं। निस्संदेह मैं उन लोगों की बात नहीं कर रहा जो यह कहते हैं कि 'मैं ईसाई हूँ', मात्र इसलिए क्योंकि उनकी पारिवारिक पृष्ठभूमि ईसाई है, क्योंकि अपने दैनिक जीवन में वे ईसाई मत पर इतना विश्वास नहीं करते होंगे। ऐसे व्यक्तियों को छोड़कर केवल एक अरब ऐसे लोग जो कि बहुमत में हैं धर्म पर विश्वास नहीं करते। इसलिए चार अरब लोगों के इस बहुमत तक पहुँचने के लिए, बिना किसी धर्म के उन्हें सच्चे अर्थों में मनुष्य कहलाने के लिए, चरित्रवान बनाने के लिए हमें कोई मार्ग ढूँढ़ना होगा। यही

प्रमुख बात है। जहाँ तक करुणा तथा संबंधित बातों का प्रश्न है मैं उन्हें केवल धार्मिक विषय नहीं बल्कि मनुष्य के सद्‌गुण मानता हूँ। इसलिए व्यक्ति बिना किसी पारंपरिक धर्म के भी एक अच्छा संवेदनशील मनुष्य हो सकता है जिसके मन में एक बेहतर विश्व, एक सुखी विश्व के लिए एक उत्तरदायित्व की भावना और प्रतिबद्धता हो। इस संबंध में उचित शिक्षा बहुत महत्त्वपूर्ण है साथ ही प्रचार माध्यम भी बहुत महत्त्वपूर्ण है।

प्रश्न : दो व्यक्तियों ने मुझे धोखा दिया है और मेरे साथ अनुचित व्यवहार किया है जिससे मुझे बहुत अधिक आर्थिक हानि पहुँची और मैं अपने परिवार का पालन-पोषण न कर सका। जब मैं इस परिस्थिति का विश्लेषण करता हूँ तब यह पाता हूँ कि यदि मैं पहले से ही सावधान रहता तो इस धोखे को पहचान लेता, अपने को उन लोगों से अलग कर लेता और इस हानि से अपने आपको बचा लेता। इसके लिए मैं ही दोषी हूँ। इस दोष के लिए मैं किस तरह अपने आप से घृणा करना छोड़ दूँ। मैं जानता हूँ कि अपने आप से घृणा करना अच्छा नहीं, पर मैं अपने आप को रोक नहीं पाता।

उत्तर : यदि व्यक्ति पहले से ही स्वयं से घृणा करने की परिस्थिति में है तो केवल किसी विचार के एक दो बार के चिंतन से इस प्रक्रिया को रोका नहीं जा सकता। वास्तव में पिछले कुछ दिनों में हम इस प्रकार की परिस्थितियों से संबंधित कुछ उपायों के विषय पर चर्चा कर रहे हैं। शिक्षा, अभ्यास से ही इस प्रकार की कठिनाइयों से निपटा जा सकता है।

प्रश्न : बौद्ध धर्म से संबंधित ग्रंथों में मैंने पढ़ा है कि यह सोचना गलत है कि किसी जीवनकाल में हम कोई विशिष्ट शिक्षा ग्रहण कर रहे हैं। फिर भी ऐसा ही अनुभव होता है तथा कर्म के अनुकूल प्रतीत होता है। इस विषय में उचित अथवा लाभदायक ज्ञान क्या है?

उत्तर : मेरे विचार से यहाँ कुछ भ्रांति है, (संभवतः बौद्ध धर्म के पुनर्जन्म के विषय में)। बौद्ध धर्म के अनुसार शिक्षा तथा अभ्यास द्वारा

निश्चित रूप से नया ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है और तुम कई नए अनुभव भी प्राप्त कर सकते हो। उदाहरणार्थ यदि हम बुद्धि तथा बौद्धिक तत्त्वों के सिद्धांत ज्ञान मीमांसा पर दृष्टिपात करें तो 'अभिधर्मसमुच्चय' के अनुसार इक्यावन प्रकार के बौद्धिक तत्त्व हैं। यह सब चित्त के विभिन्न रूप हैं जो मनुष्य के नाते हमारी साधारण स्थिति में भी हमारे अंदर निहित हैं। जैसे-जैसे हम साधना तथा अभ्यास द्वारा मार्ग पर अग्रसर होते जाते हैं चित्त के और कई विभिन्न रूप हैं जो हमें इस इक्यावन की सूची में दिखाई नहीं देते। उदाहरणार्थ ध्यान व एकाग्रता के संबंध में हम बौद्ध साहित्य में एकाग्रता के विभिन्न स्तरों की इतनी व्याख्याएँ पाते हैं और इन सभी को ध्यान व अभ्यास द्वारा नए ढंग से विकसित किया जाना चाहिए।

प्रश्न : शून्यता पर किस प्रकार साधना की जा सकती है?

उत्तर : प्रश्नोत्तर के बाद मैं इस संबंध में चर्चा करूँगा।

प्रश्न : हमारे चित्त को प्रशिक्षित करने का क्या कोई उपाय है जिससे हम संसार में व्याप्त अत्यधिक दुःख को देखकर बहुत उदास न हो जाएँ? दूसरे शब्दों में इतने अधिक दुःख के बीच हम किस तरह प्रसन्न रह सकते हैं?

उत्तर : किसी व्यक्ति के दृष्टिकोण अथवा सोचने के ढंग में परिवर्तन सरल नहीं है। इसके लिए विभिन्न दिशाओं से कई विभिन्न तत्त्वों के प्रयोग की आवश्यकता है। उदाहरण के लिए बौद्धाभ्यास के अनुसार हम उपाय अथवा कौशल और प्रज्ञा के समन्वय पर बल देते हैं। अतः आपके मन में यह धारणा नहीं होनी चाहिए कि केवल एक ही रहस्य है और यदि वह समझ में आ गया तो सब कुछ ठीक है। ऐसी धारणा नहीं होनी चाहिए।

उदाहरणार्थ, मेरे अपने ही विषय में यदि मैं इस परिस्थिति में आज की अपनी मानसिकता की तुलना बीस या तीस साल पहले की मानसिकता से करूँ तो उसमें बहुत अंतर है। परंतु यह अंतर क्रमशः हुआ। यद्यपि मैंने पाँच या छः वर्ष की आयु से बौद्ध धर्म की शिक्षा प्रारंभ की परंतु

उस समय मेरी इसमें कोई रुचि नहीं थी, हालाँकि मुझे पुनर्जन्म का उच्चतम रूप माना गया था। फिर लगभग सोलह वर्ष की उम्र में मैंने गंभीर अभ्यास प्रारंभ किया। बीस वर्ष की अवस्था में जब मैं चीन में था और वहाँ बहुत अधिक कठिनाइयाँ थीं फिर भी जब अवसर मिलता तो मैं अपने गुरु से शिक्षा ग्रहण करता था। फिर अन्य अवसरों के विपरीत मैंने आंतरिक प्रयास किया। चौंतीस-पैंतीस वर्ष की आयु में मैंने ऐसे ही शून्यता के संबंध में चिंतन प्रारंभ किया। गंभीर प्रयास तथा गहन साधना के फलस्वरूप निरोध का ज्ञान कुछ वास्तविक सा लगने लगा। मुझे उसकी समझ आने लगी कि 'हाँ कुछ तो है, कुछ संभावना तो है।' यह भावना मेरे लिए बड़ी ही प्रेरणादायी सिद्ध हुई। फिर भी उस समय बोधिचित्त बहुत ही कठिन लगा। मैं बोधिचित्त का बहुत प्रशंसक हूँ, उस तरह का चित्त अद्‌भुत है। तीस वर्ष की आयु में उसका अभ्यास मेरे लिए बहुत दूर की बात थी। लेकिन लगभग चालीस साल की आयु में मुख्यत: शांतिदेव के ग्रंथ व अन्य कुछ ग्रंथों के अध्ययन तथा अभ्यास के फलस्वरूप अंतत: मुझे बोधिचित्त की कुछ अनुभूति हुई। फिर भी मेरे चित्त की दुर्दशा है। परंतु अब मुझे यह निश्चय है कि यदि मेरे पास पर्याप्त व उचित समय तथा उचित स्थान होता तो मैं बोधिचित्त का विकास कर सकता। इसमें चालीस वर्ष लग गए हैं।

अत: जब मैं ऐसे लोगों से मिलता हूँ जो अल्पकाल में उच्च अनुभूति का दावा करते हैं तो मुझे बड़ी हँसी आती है, यद्यपि मैं उसे छिपाने का प्रयास करता हूँ। वास्तविकता तो यह है कि मानसिक विकास में समय लगता है। यदि कोई यह कहे कि बहुत कठिनाइयों के बाद, कई वर्षों के बाद कुछ परिवर्तन होगा, तो उसमें मुझे कुछ क्रियाशीलता दिखाई देती है। कोई यदि यह कहे कि 'अल्पकाल में ही, दो वर्ष में ही बहुत बड़ा परिवर्तन हुआ', तो वह अवास्तविक लगता है।

प्रश्न : मैंने सुना है कि चित्त की व्याख्या या परिभाषा विचारों के पात्र के रूप में की गई है। क्या साधना का उद्देश्य पात्र रूपी चित्त से विचारों के घाल-मेल को दूर करना है? क्या ऐसा करने से चित्त प्रकाशमान होगा?

उत्तर : बौद्ध पारिभाषिक शब्दावली में हम 'चित्त से विचारों को रिक्त करना' के स्थान पर ''चित्त के क्लेशों का शुद्धीकरण'' अभिव्यक्ति का प्रयोग करते हैं क्योंकि जब हम 'विचार' शब्द का प्रयोग करते हैं तो उसमें सकारात्मक व नकारात्मक दोनों ही विचार आ जाते हैं। तथापि साधना का उद्देश्य निर्विकल्प अवस्था तक पहुँचना है। यद्यपि यह समझना अत्यंत आवश्यक है कि जब हम निर्विकल्प शब्द का प्रयोग करते हैं तो विभिन्न संदर्भों में उसके अलग-अलग अर्थ हो सकते हैं। सूत्र व्याख्या के संदर्भ में 'निर्विकल्प अवस्था' का एक अर्थ होता है और तंत्र के विभिन्न वर्ग के संदर्भ में अलग अर्थ होता है। परम योग तंत्र के अंतर्गत भी पितृ तंत्र तथा मातृ तंत्र में इसके अलग-अलग अर्थ होते हैं। जोगचेन उपदेश तथा महामुद्रा उपदेशों के संदर्भ में 'निर्विकल्प' शब्द का प्रयोग बार-बार होता है। और इन दोनों में संबद्धता परम योग तंत्र के ज्ञान के दृष्टिकोण से है।

महान विद्वान और साधक डाकपो ताषी नामग्याल द्वारा महामुद्रा पर लिखित ग्रंथ में उनकी मान्यता है कि महामुद्रा मार्ग न तो सूत्र प्रणाली से जुड़ा है और न ही तंत्र प्रणाली से। वह इसे एक अनूठा मार्ग कहकर व्याख्यायित करते हैं और इस दावे के लिए उनके पास कोई न कोई आधार तो अवश्य होगा। परंतु जब हम उस कथन पर चिंतन करते हैं तो ऐसे मार्ग की धारणा के विषय में समझना बहुत ही कठिन है जो न तो सूत्र के अंतर्गत और न ही तंत्र के अंतर्गत है। जो भी हो वह बौद्ध धर्म नहीं है। बुद्ध ने केवल सूत्रयान तथा तंत्रयान का उपदेश दिया था। परंतु यहाँ जिसकी बात हो रही है वह इन दोनों से संबंधित नहीं है जिसका अर्थ यह हुआ कि वह बिलकुल अलग है।

जो भी हो महामुद्रा तथा जोगचेन अभ्यास में शून्यता तथा प्रभास्वर के समन्वय पर बल दिया जाता है। यहाँ जब हम प्रभास्वर शब्द का प्रयोग करते हैं तब इसके दो विभिन्न अर्थ हो सकते हैं। एक अर्थ में यह उस वस्तु से संबंधित है जो कि शून्यता है और शून्यता को प्रभास्वर के संदर्भ में समझा जा सकता है। दूसरे रूप में इसका अर्थ शून्यता का व्यक्तिनिष्ठ अनुभव है। अतः प्रभास्वर के वस्तुनिष्ठ तथा व्यक्तिनिष्ठ दोनों अर्थ हो सकते हैं। प्रभास्वर के वस्तुनिष्ठ तथा व्यक्तिनिष्ठ अंगों

पर ही महामुद्रा तथा जोगचेन दृष्टिकोण में बल दिया गया है। यद्यपि यहाँ वस्तु तथा व्यक्ति जैसे शब्दों का प्रयोग करते समय यह भावना नहीं होनी चाहिए कि अभी भी द्वैत भाव है, क्योंकि जहाँ तक *दृश्यप्रपंचशास्त्र* अनुभव अथवा ध्यान करने वाले की स्थिति का संबंध है, उसके दृष्टिकोण से कोई द्वैत भाव नहीं है। केवल एक तीसरे व्यक्ति के परिप्रेक्ष्य से, अथवा पुनरावलोकन करने पर वस्तु तथा व्यक्ति जैसा रूप दिखाई देगा। परंतु वास्तविक अनुभव में वस्तु तथा व्यक्ति में कोई द्वैत नहीं है। अत: जब हम निर्विकल्प की इस स्थिति के विकास की बात करते हैं तो इस साधक के अंदर इस स्थिति तक पहुँचने की क्षमता होनी चाहिए। यद्यपि हमारे अंदर यह धारणा नहीं होनी चाहिए कि चूँकि हमारा उद्देश्य निर्विकल्प की इस स्थिति तक पहुँचना है उन सबसे हमें कोई लाभ नहीं जिनका संबंध वैकल्पिक वस्तुओं से है। वास्तव में धर्मकीर्ति द्वारा रचित *प्रमाणवर्तिका* के दूसरे अध्याय में इस विषय पर गहन चर्चा पाई जाती है जिसमें कई कारणों तथा तर्कों द्वारा वह यह निरूपित करते हैं कि किस प्रकार वैकल्पिक विचार प्रक्रिया जैसे चिंतन, पुनर्विचार तथा साधना जो बौद्धिक विचार प्रणाली से संबंधित है निर्विकल्प के अनुभव की पराकाष्ठा पर पहुँचती हैं। यह ध्यान में रखने की बात है। साथ ही हम साधना के दो मूल प्रकार की बात करते हैं : एक तो विश्लेषणात्मक जिसमें हम जाँच पड़ताल के लिए विश्लेषणात्मक कार्य शक्ति का प्रयोग करते हैं तो दूसरा संपत्ति है जिसकी कुंजी एकाग्रता है। चूँकि विश्लेषण में विचार तथा विचार प्रणाली का प्रयोग होता है इसलिए अनुत्तर योग तंत्र में जब हम विशेष या विपश्यना का परिष्कार करते हैं तब विश्लेषण का प्रयोग नहीं होता। वस्तुत: यह इस कुशलता के साथ किया जाता है जिसमें चित्त की एकाग्रता पर बल दिया जाता है। यह उपाय जोगचेन तथा महामुद्रा अभ्यास में भी पाया जाता है।

प्रश्न : परम पावन, क्या आप सकुशल तथा अकुशल कर्मों के चुनाव की संभावना की व्याख्या करेंगे? क्या हमारे पूर्वकृत कर्म हमारे कार्यों तथा दृष्टिकोण को प्रभावित करते हैं?

उत्तर : जैसा आपने बताया वास्तव में हमारे अधिकांश व्यवहार, चिंतन शैली तथा दृष्टिकोण हमारे पूर्वकृत कर्मों से निर्धारित तथा परिचालित होता है। जब हम पूर्वकृत कर्मों के प्रभाव की बात करते हैं तो हम अनुकूलन के प्रभाव की बात कर रहे हैं। परंतु अपनी इच्छा शक्ति और चयन की स्वतंत्रता के प्रयास से स्वयं को पूर्वकृत कर्मों से दूर रख सकते हैं और अपने चित्त को उन उपायों का आदी बना सकते हैं जिनसे हम पहले से ही परिचित नहीं हैं। हम समझ-बूझ कर उस ज्ञान का विकास कर अपने पूर्वकृत कर्मों के बंधन से स्वयं को मुक्त कर सकते हैं। हालाँकि कुछ जैविक शक्तियाँ ऐसी हैं जिनसे अपने आपको मुक्त करना अपेक्षाकृत और कठिन हो सकता है। वस्तुतः बौद्ध धर्म के अनुसार हमारा भौतिक शरीर ही एक स्कंध के रूप में माना जाता है जो कि अज्ञान तथा भ्रांतियों का फल है। यह हमारे अस्तित्व के वर्तमान स्थिति का आधार मात्र नहीं है जो कि सीमाओं तथा दुःखों से बाधित है अपितु आगामी दुःख के अनुभवों को भी उत्पादित करने का कारण है। हमारे शरीर में ऐसा कुछ जैविक है जो हमें उस बेधन से बाहर निकलने में रुकावट का कार्य करता है, जैसे मानो कुछ निहित हो, एक प्रकार का आलस्य जिसके फलस्वरूप एक प्रकार के भार का अनुभव होता है। इससे हमारे चिंतन की स्पष्टता में भी बाधा होती है। परंतु चित्त के अभ्यास तथा साधना के अनुभवों द्वारा शरीर के तत्त्वों के अति सूक्ष्म ऊर्जा स्तरों पर काबू पाया जा सकता है। यह विशेषकर तंत्र में संभव है जिसमें साधारणतया हम अपने शरीर के तत्त्वों के अंदर शक्ति के स्थूल, सूक्ष्म तथा अति सूक्ष्म स्तर देख सकते हैं। इस तरह से हम स्थूल स्तरीय शारीरिक तत्त्वों अनुभवों पर पड़ने वाले प्रभावों पर हावी हो सकते हैं। इस तरह उस प्रकार की संभावना भी है।

प्रश्न : मेरी समझ में प्रबुद्धता एक अर्थ में कारणों तथा परिस्थितियों के बंधनों से मुक्ति है। इस संसार में जिसमें अस्तित्व की प्रकृति सापेक्षिक तथा हेतुयुक्त है, रहते हुए हम किस तरह इस स्थिति को प्राप्त कर सकते हैं?

उत्तर : जहाँ तक हेतुओं तथा परिस्थितियों के बंधनों का प्रश्न है

वे सार्वभौमिक हैं तथा बुद्धत्व की स्थिति तक पहुँचते हैं। उदाहरण के लिए हम बुद्ध के सर्वज्ञ चित्त को लें जो पूर्ण रूप से प्रबुद्ध है पर फिर भी वस्तुओं से प्रभावशील है। यह अनित्य है तथा पल-पल परिवर्तन शील है, यह एक क्रिया है अतः अस्थायी है। तुम्हारे कार्य कारण सिद्धांत का क्रियाशील रूप यहां भी परिलक्षित होगा। परंतु कभी-कभी बुद्धत्व की स्थिति को अमरता की स्थिति, नित्यता की स्थिति के रूप में पारिभाषित किया जाता है। इसे उचित संदर्भ में समझा जाना चाहिए। चित्त की संतानता के संदर्भ में इसे स्थायी माना जाता है। कभी-कभी बुद्धत्व की स्थिति को स्थायी माना जाता है क्योंकि जब हम बुद्ध के साकार रूप की बात करते हैं तो उसमें हेतुओं तथा परिस्थितियों से बाधित अनित्य रूप भी है तथा स्थायी रूप भी है। अब जब हम बुद्ध के कार्य की बात करते हैं तो कुछ तो क्षण-क्षण में परिवर्तित होते दिखाई देते हैं और कुछ इस तरह परिवर्तित नहीं होते। चूँकि जब हम बुद्धकाय की बात करते हैं तो उसके दो रूप होने के कारण साधारणतया इसे अपरिवर्तनशील तथा नित्य मानते हैं।

प्रश्न : आपके इस कथन ने मुझे उलझन में डाल दिया है कि चोट पहुँचाना अत्याचारी की मूल प्रकृति है और इस कारण हमारे मन में उसके प्रति किसी भी प्रकार का दुर्भाव नहीं होना चाहिए। क्या हम सबकी मूल प्रवृत्ति में तथागतगर्भ अथवा बुद्ध प्रकृति नहीं है?

उत्तर : मुझे लगता है कि इस संबंध में कुछ गलतफहमी है। शांतिदेव ने इस तर्क का प्रयोग सापेक्षिक रूप में दिया। इसमें एक प्रतिबंधित वाक्यांश है। 39 कारिका के अनुसार :

यदि स्वभावों बालानं परोपद्रवकारिता।
तेषु कोपो न युक्तो में यथाग्नौ दहनात्मके॥

इसमें 'यदि' का प्रतिबंध है।

यद्यपि जब हम मूल प्रवृत्ति शब्द का प्रयोग करते हैं तब हमें इस बात को समझना चाहिए कि विभिन्न संदर्भों में इसके बहुत ही अलग-

अलग अर्थ निकलते हैं। जब हम यह कहते हैं कि सत्वों की मूल प्रवृत्ति का चित्त बहुत ही शुद्ध होता है तब हम जिस बुद्ध प्रकृति की बात करते हैं जो कि एक अलग स्तर पर है। इससे ही जुड़ी एक महत्त्वपूर्ण आवश्यकता है कि जब हम बौद्ध दर्शन के शून्यता से संबंधित ग्रंथों का अध्ययन करें तो उसके सूक्ष्म अर्थों को भी भलीभाँति समझें। उदाहरणार्थ संस्कृत का एक महत्त्वपूर्ण शब्द जो कि शून्यता के अर्थ को समझने में बहुत ही महत्त्वपूर्ण है वह है 'स्वभाव' जिसका हम आंतरिक अस्तित्व या आत्म प्रकृति या केवल सार के रूप में अनुवाद कर सकते हैं। इस तरह विभिन्न संदर्भों में इसके अलग-अलग अर्थ हो सकते हैं। इन ग्रंथों का अध्ययन करते समय यह बहुत आवश्यक है कि किसी विशिष्ट शब्द का अर्थ ग्रहण करते समय हम बहुत अधिक रूढ़ न हों और उसे हर उपयोगी संदर्भों में प्रयोग में लाएँ। एक ही शब्द एक दर्शन प्रणाली में जैसे माध्यमिका में एक रूप में प्रयोग में लाया जाता है और एक अन्य विचार-धारा में एक अन्य रूप में। इसलिए अर्थग्रहण में लचीलेपन का होना और विभिन्न संदर्भों में इसकी अर्थ-छटाओं को समझना बहुत ही महत्त्वपूर्ण है।

प्रश्न : बुधवार को हो रही हरे तारा शक्ति के विषय में क्या आप कुछ समझाएँगे? किस प्रकार की प्रतिज्ञाएँ ली जाती हैं इत्यादि?

उत्तर : हरे तारा से संबंधित जो आयोजन कल किया जा रहा है वह आशीर्वाद का है, पूर्ण शक्ति देने का नहीं। उसमें दीर्घ आयु शक्ति देने जिसकी परंपरा पाँचवें दलाई लामा से चली आ रही है, का भी समारोह सम्मिलित है। इस तरह यह अभ्यास दलाई लामा वंश के लिए अनूठा है और इसमें कोई विशिष्ट प्रतिज्ञाएँ नहीं हैं। क्या यह अच्छा नहीं कि तुम्हें आशीर्वाद मिल जाता है परंतु कोई प्रतिज्ञाएँ नहीं हैं! परंतु यदि तुम प्रातः बोधिसत्व की प्रतिज्ञाएँ लेते हो तो फिर वचनबद्धता आ जाती है। बोधिसत्व की यह कुल अठारह मूल प्रतिज्ञाएँ और छियालीस सहायक प्रतिज्ञाएँ हैं। तो जैसा मैंने आज प्रातः कहा यदि बौद्ध अभ्यास से आप पहली बार परिचित हो रहे हो तो व्रत न ग्रहण करने में ही

बुद्धिमानी है।

प्रश्न : उस ईसाई के लिए आप क्या सलाह देंगे जो बौद्ध धर्म का अध्ययन कर रहा है और जो इस सप्ताह बोधिसत्व की प्रतिज्ञा लेने की सोच रहा है?

उत्तर : इसमें कुछ कठिनाई नहीं होनी चाहिए।

प्रतीत्य समुत्पाद के द्वाद्वशांग

अब तक हम क्षांति तथा धैर्य के अभ्यास के विषय में चर्चा करते आए हैं जो कि जैसा मैंने पहले बताया बोधिसत्व के मुख्य अभ्यासों के छह पारमिताओं में से एक है। इस संदर्भ में भी जैसा मैं पहले बता चुका हूं क्षांति तथा धैर्य के मुख्य तीन प्रकार हैं : दूसरों के द्वारा पहुँचाए गए हानि या चोट को स्वीकार करना; अभ्यास से जुड़ी पीड़ा, दु:ख तथा कठिनाइयों को स्वेच्छा से स्वीकार कर लेना और यथार्थ के स्वरूप की प्रकृति जैसे उलझी परिस्थितियों को समझने की अपनी शक्ति को बढ़ाकर क्षांति तथा धैर्य की क्षमता का विकास करना। इसमें वास्तविकता की परम स्थिति जैसे शून्यता आदि को समझने का भी समावेश है। एक बात जिसका संकेत मैंने नहीं दिया है वह है कि प्रत्येक पारमिता का अभ्यास विशुद्ध तथा आदर्श युक्त होना चाहिए; उसमें अन्य पाँच पारमिताओं के सभी अंगों का समावेश होना चाहिए। उदाहरण के लिए क्षांति तथा धैर्य के अभ्यास में उस स्थिति में रहते हुए दूसरों को भी प्रोत्साहित करना दानपारमिता का अभ्यास है। दूसरा है ईमानदारी तथा सद्भाव से क्षांति तथा धैर्य का अभ्यास जो कि क्षांति के अभ्यास का नैतिक अंग है। तीसरा क्षांति है। चौथा है वीर्यपारमिता जिसके अंतर्गत वे सारे प्रयास आ जाते हैं जो क्षांति तथा धैर्य बनाए रखने में सहायक हैं। पाँचवां है कि, जब हम इस प्रकार के अभ्यास में रत रहते हैं तो

हमारा चित्त एकाग्रता की स्थिति में रहता है और इस तरह हम अपने सभी कामों को एकाग्रचित्त हो कर सकते हैं। यहाँ हम ध्यान को भी सम्मिलित कर सकते हैं जो कि क्षांति अभ्यास में ध्यान तथा एकाग्रता का अंग है। प्रज्ञा पारमिता का अभ्यास वह क्षमता है जिससे हम यह निर्णय कर सकते हैं कि किसी विशिष्ट परिस्थिति में क्या उचित है और क्या अनुचित। यह सब प्रज्ञा तथा बुद्धि की वह क्षमता है जो क्षांति अभ्यास का सहवर्ती है। इसमें शून्यता को समझने की क्षमता भी सम्मिलित है। अन्य पारमिताओं के अभ्यास जैसे दान पारमिता भी ऐसा ही है : दान पारमिता के अभ्यास के अंतर्गत अन्य सभी पारमिताएँ पूर्ण होनी चाहिए। यही शील के संदर्भ में भी सही है, इत्यादि।

जब हम इन छह पारमिताओं दान, शील, क्षांति, वीर्य, ध्यान तथा प्रज्ञा की बात करते हैं वे उन अबौद्धसत्व अभ्यासियों में भी दृष्टिगत होते हैं जो अधिकांशत: वैयक्तिक रूप से निर्वाणोन्मुख हैं। प्रेरणा ही इन छह पारमिताओं के अभ्यास को पूर्ण बनाती है। किसी व्यक्ति के क्षांति के अभ्यास को क्षांति का पूर्ण अभ्यास बनाने के लिए बोधिसत्व के प्रेरणा की आवश्यकता है। यदि तुम्हारे क्षांति तथा दानशीलता इत्यादि का अभ्यास सभी की भलाई के लिए बोधिचित्त की भावना से प्रेरित है तो तुम्हारा अभ्यास सही अर्थों में पारमिता का अभ्यास होगा।

इन छ: पारमिताओं के यह सभी अभ्यास या तो पुण्यसंभार या प्रज्ञासंभार से जुड़े हैं। इस मार्ग के इन दोनों प्रमुख अंगों उपाय अंग और प्रज्ञा अंग के विभाजन का कारण यह है कि बुद्धत्व की अंतिम स्थिति बुद्ध के दो काय के या दो रूप के अभिलक्षण हैं। एक तो धर्मकाय की स्थिति है जिसे बुद्धत्व के समझने की या आत्मानुभूति की परम स्थिति की दृष्टि से समझा जा सकता है। दूसरा रूप रूपकाय के नाम से जाना जाता है। इन दोनों काय के विभिन्न कार्य हैं : धर्मकाय की स्थिति अपने आत्मशुद्ध रूप को पहचानना है; रूपकाय को विशेषकर सेवा के लिए धारण किया जाता है जिससे अन्य सत्व भी बुद्ध को प्राप्त कर सकें। यह एक ऐसा माध्यम है जिससे धर्मकाय अन्य सत्वों के साथ संबंध रख उनकी भलाई कर सकें। इस तरह सूत्रयान के अनुसार यह महायान का एक ढाँचा है जिसमें आत्मिक शुद्धि के मार्ग की ओर उन्मुख होने की

प्रेरणा अन्य सभी सत्वों के हेतु प्रबुद्धता की स्थिति को प्राप्त करने की बोधिचित्त की स्थिति है। इस प्रकार के उद्देश्य से प्रेरित होकर तुम ऐसे मार्ग की ओर उन्मुख होते हो जिसमें छः पारमिताओं की विशेषताएँ हैं जो कि उपाय तथा प्रज्ञा का एकीकरण है। बोधिसत्वों के दस स्तरों से तुम तत्त्व ज्ञान प्राप्ति के ऐसे स्तर पर पहुँचते हो जहाँ धर्मकाय और रूपकाय का धारण होता है। महायान पंथ के अनुसार सूत्र प्रणाली में इस प्रकार की व्यवस्था देखने में आती है।

बौद्ध तांत्रिक दृष्टिकोण में जो अनोखा तत्त्व है जो उसे महायान सूत्र व्यवस्था से अलग दिखाता है वह है कि तंत्र के अनुसार उपाय और प्रज्ञा के एकीकरण को और गहरे व गंभीर स्तर पर समझा जाता है। इसका कारण यह है कि सूत्र प्रणाली में उपाय तथा प्रज्ञा के एकीकरण को दो सुस्पष्ट अस्तित्व के रूप में दो अलग ज्ञानात्मक घटना के रूप में समझा जाता है। इसलिए यद्यपि उपाय तथा प्रज्ञा एक दूसरे के पूरक हैं, उनके एकीकरण को पूरक रूप में ही समझा जाता है, दोनों एक दूसरे के पूरक हैं, एक दूसरे का अवलंब हैं तथा एक दूसरे को सुदृढ़ करते हैं। परंतु तंत्र में इस एकीकरण को और गहरे स्तर पर ले जाया जाता है जहाँ इस प्रकार समझा जाता है कि चेतना की एक घटना अथवा मानसिक स्थिति में उपाय तथा प्रज्ञा दोनों अंग ही पूर्ण हैं। ऐसा नहीं कि चित्त की दो अलग-अलग अवस्थाएँ हैं, अपितु एक ही ज्ञानात्मक घटना में ही उपाय तथा प्रज्ञा का सम्मिलन है। तंत्र के सभी स्तरों का आधार यही है।

तंत्र के अंतर्गत ही विभिन्न प्रकार की व्यवस्था या विभाजन देखने में आते हैं। कभी-कभी तांत्रिक मार्ग को छः श्रेणियों में विभक्त किया जाता है; आमतौर पर यह चार भागों में विभक्त होता है। तंत्र के पहले तीन वर्गों में तथा अनुत्तरयोग तंत्र के लक्षणों में अंतर यह है कि अनुत्तरयोग तंत्र में प्रभास्वर के अभ्यास की प्रस्तुति बहुत ही विस्तृत रूप से हुई है और उस पर बल दिया गया है जो कि तंत्र के तीन निम्न वर्गों में नहीं पाया जाता।

प्रभास्वर को अच्छी तरह समझने के लिए सूक्ष्मता विभिन्न स्तरों पर चेतना की अनुभूति की संभावना और उसकी संबंधित ऊर्जा को

समझना परम आवश्यक है। यही कारण है कि अनुत्तरयोग तंत्र में हमें चक्रों, ऊर्जा वाहिकाओं, उनमें प्रसारित होने वाली ऊर्जा और शरीर के प्रमुख अंगों में स्थित बिन्दुओं पर काफी चर्चा देखने को मिलती है। इसका कारण है कि वे सब चेतना तथा ऊर्जा के विभिन्न स्तरों में अंतर करने के विचार से अविच्छिन्न रूप से जुड़े हैं। इन्हीं कारणों से अनुत्तरयोग तंत्र में रौद्र तथा काम-विषयी स्वरूप वाले चित्र तथा मूर्तियाँ देखने को मिलती हैं। ऊर्जा वाहिकाओं, चक्रों, सूक्ष्म शक्ति इत्यादि से जुड़े अनुत्तरयोग तंत्र के कई अभ्यास हमारे शारीरिक अस्तित्व के आधारभूत तत्त्वों जैसे छः तत्त्वों को ध्यान में रखते हैं। हमारे शरीर के अंदर इन तत्त्वों व ऊर्जा के प्रवाह का प्रभाव हमारे चित्त की अवस्था पर और चेतना के स्तर पर पड़ता है। उदाहरण के लिए हम देखते हैं कि हमारे जीवन की कुछ परिस्थितियों या कुछ अवसरों पर हमें सूक्ष्म चित्त के अनुभव की एक झलक देखने को मिलती है। बुद्ध शृंज्ञान ने अपने एक ग्रंथ में इसकी व्याख्या की है जिसमें वह कहते हैं कि हमारी साधारण अवस्था में कुछ अवसरों में हमें सूक्ष्म चित्त के अनुभव की झलक जैसे गहरी निद्रा, कामोत्कर्ष की अवस्था, बेहोशी की स्थिति और मृत्यु के समय मिलती है। इन अवस्थाओं में हम बड़ी स्वाभाविकता से सूक्ष्म चेतना के एक रूप का अनुभव करते हैं। इसलिए इन चार सहजोत्पन्न अवस्थाओं में यदि साधक कुछ साधना पद्धतियों का प्रयोग करता है तो वह उस क्षण को पकड़ने का अवसर उत्पन्न कर और अपनी पूर्ण चेतना से सूक्ष्म प्रभास्वर के अनुभव के अवसर की उत्पत्ति कर सकता है। यह विशेषकर मरणासन्न अवस्था में और फिर क्रमशः निद्रा के समय तथा कामोत्कर्ष की अवस्था में होती है।

इन्हीं तत्त्वों की पीठिका पर हमें *याब युम* पुरुष—स्त्री के संयोग के सिद्धांत को समझना होगा। यदि हम इसे ठीक से समझें तो हम पाएँगे कि देव और देवी जिस प्रकार की काम क्रीड़ा में लगे हुए हैं वह आम अर्थ में लिए जा रहे अर्थ से बिलकुल अलग है। इस प्रकार के *याब युम* क्रिया के लिए यह अत्यंत आवश्यक है कि शक्ति को निस्सरण के बचाकर बनाएँ रखें। वास्तव में यदि कोई तांत्रिक अभ्यासी ऐसा करने में असमर्थ होता है तो उसे एक बहुत बड़ा दोष माना जाता है। विशेषकर

कालचक्र तंत्र में इस पर बहुत बल दिया गया है और अभ्यासी के दृष्टिकोण से यह एक गंभीर दोष है।

इस तरह हमने यहाँ यह समझा कि उपाय और प्रज्ञा में जितना गहन संयोग होगा, प्रबुद्धता का मार्ग उतना ही अधिक प्रभावशाली और शक्तिशाली होगा। यद्यपि इन सब सिद्धांतों के सफल अभ्यास की आधारशिला बोधिचित्तोत्पादन और उसकी अनुभूति पर आधारित है। इस पूर्वापेक्षा के अभाव में किसी के लिए भी सफलतापूर्वक इन अभ्यासों को कर पाना संभव नहीं है।

बोधिचित्तोत्पाद की सफलता के लिए प्रतिबद्धता और उत्तरदायित्व की भावना, दूसरों को दु:खों से मुक्ति दिलाने का उत्तरदायित्व अपने ऊपर ले लेना। बोधिचित्तोत्पाद के लिए यह पूर्वापेक्षित है। इसके लिए सार्वभौमिक करुणा की भावना का विकास आवश्यक है।

इस प्रकार के सार्वभौमिक करुणोत्पाद के लिए हमें पारंपरिक रूप से दो पद्धतियां या उपाय देखने को मिलते हैं : सात बिंदुओं के कार्य कारण उपाय तथा परात्मपरिवर्तन और परात्मसमता का अभ्यास। करुणा के उत्पादन में यह दो मूल सिद्धांत या उपाय महत्त्वपूर्ण हैं। शांतिदेव विरचित बोधिचर्यावतार के अष्टम परिच्छेद में हम परात्मपरिवर्तन और परात्मसमता की पद्धति पाते हैं।

इस तरह यह सब पूर्ण प्रबुद्धता प्राप्त करने हेतु महायान पंथ के विभिन्न अंग हैं। यद्यपि विशुद्ध करुणा की भावना जिसके अनुसार अन्य सत्वों के दु:ख को देखना असहनीय हो जाता है व्यक्ति के लिए सबसे पहले दु:ख की गंभीरता तथा गहनता को समझना आवश्यक है। इसलिए यहाँ दु:ख के स्वरूप को समझना आवश्यक है।

साधारणतया हमारे अंदर जिस प्रकार की करुणा होती है वह यह कि हम जब किसी को बहुत अधिक पीड़ा में देखते हैं तो तत्काल ही हमारे अंदर परानुभूति की भावना उत्पन्न होती है। हम सोचने लगते हैं कि 'कितनी दर्दनाक बात है'। परंतु जब हम सांसारिक अर्थों में किसी को सफल पाते हैं तो उसके प्रति करुणा तथा दु:ख की भावना के स्थान पर ईर्ष्यालु हो उठते हैं। यह वास्तव में बचकानी करुणा है। इस प्रकार की भावना के उत्पन्न होने का कारण यह है कि हमने दु:ख का सही

अर्थ नहीं समझा। इसलिए दु:ख की अनुभूति को और उसके अर्थ को समझने के लिए हमें आधारभूत मार्गों का प्रशिक्षण लेना होगा।

दु:ख की प्रकृति की अनुभूति का विकास और दु:ख के वास्तविक अर्थ को समझना ही पर्याप्त नहीं है। साथ ही साथ एक विकल्प की संभावना यानि दु:ख से विमुक्तता के विकास की भावना भी महत्त्वपूर्ण है। यहाँ चार आर्य सत्य सिद्धांतों का ज्ञान महत्त्वपूर्ण हो जाता है। यह मार्ग महायान बौद्ध तथा अमहायान बौद्ध के दृष्टिकोणों के लिए एक जैसा है।

जब हम चार आर्य सत्यों की बात करते हैं तब हम कारण कार्य के दो युग्म पाते हैं। एक का संबंध हमारे सांसारिक अस्तित्व तथा अनुभव से है जिसमें दु:ख फल है और दु:ख की उत्पत्ति कारण है। इस तरह एक कारण कार्य युग्म का संबंध हमारे सांसारिक अस्तित्व से संबंधित है। दूसरा युग्म उस प्रक्रिया से संबंधित है जो हमें उस बंधन से निकालकर और दु:ख से विमुक्ति दिलाती है। यह दोनों निरोध फल के रूप में और निरोध की ओर ले जाने वाला मार्ग कारण के रूप में। जब हम कारण कार्य के इन दो युग्मों को और अच्छी तरह से समझ लेते हैं तब हम अपना चिंतन प्रतीत्य समुत्पाद के द्वादशांग के सिद्धांत पर केंद्रित करते हैं। दूसरे शब्दों में द्वादशांग का सिद्धांत, चार आर्य सत्य में संक्षेपित विचारों की व्याख्या है।

प्रतीत्य समुत्पाद के द्वादशांग सिद्धांत में उसका उचित क्रम तथा विपरीत क्रम दोनों ही प्रतीत होते हैं। यदि कोई उसके उचित क्रम पर चिंतन करे तो अज्ञान ही उसकी पहली कड़ी के रूप में दिखाई देती है। अज्ञान से सांकल्पिक कार्य होते हैं; इसमें चेतना पर चिह्न अंकित होते हैं; इससे नाम तथा रूप जन्म लेते हैं जिसका अंत जरा और मरण में होता है। इस शृंखला पर चिंतन करने से हम यह समझ सकते हैं कि हम इस संसार में किस प्रकार जन्म लेते हैं और किस तरह जन्म तथा मरण के दुर्दम्य चक्र में घूमते रहते हैं।

जब हम इस क्रम को उलट देते हैं और इन प्रत्येक कड़ियों के निरोध पर चिंतन करते हैं तब हम पाएँगे कि जरा और मरण का निरोध संस्कृत होने के निरोध पर है और उसका निरोध मोह के निरोध पर है

इत्यादि। इस तरह इस विपरीत क्रम को समझकर हम यह समझ सकते हैं कि किस तरह इस बंधन से बाहर निकलकर इस संसार से विमुक्ति मिल सकती है।

वे सब अभ्यास जो कि प्रतीत्य समुत्पाद के द्वादशांग के क्रम तथा विपरीत क्रम पर आधारित हैं वे प्रबुद्धता के मार्ग के सैंतीस अंगों में पाए जाते हैं। और इसका प्रारंभ चार स्मृतियों के अभ्यास इत्यादि से होता है। इस तरह दूसरे शब्दों में प्रबुद्धता के मार्ग के सैंतीस अंगों का अभ्यास प्रतीत्य समुत्पाद के द्वादशांग से संबंधित है।

प्रबुद्धता के मार्ग के सैंतीस अंगों में पहला है शरीर के प्रति जागरूकता। अगला है हमारे विचारों तथा भावनाओं के प्रति जागरूकता। तत्पश्चात चित्त या चेतना के प्रति जागरूकता और फिर वस्तु के प्रति जागरूकता। जब हम शरीर के प्रति स्मृति पर चिंतन करते हैं कि किस तरह शरीर का अस्तित्व बनता है तथा हेतुओं की परिस्थितियों का परीक्षण करते हैं तब हम शरीर की अपवित्रता को भी देखते हैं। फिर उस दृष्टिकोण से हम देखेंगे कि वे व्यक्ति भी जो सांसारिक दृष्टिकोण से सफल जान पड़ते हैं वे वास्तव में ईर्ष्या की वस्तु नहीं हैं वे अभी भी दु:ख तथा असंतोष के बंधन में जकड़े हुए हैं। वास्तव में हम यदि इस पर गंभीर रूप से चिंतन करें तो पाएँगे कि जितना अधिक व्यक्ति सांसारिक अर्थों में सफल होता है उसका मनोवैज्ञानिक रूप उतना ही अधिक उलझा हुआ होगा क्योंकि आशाओं, भय आशंकाओं तथा निरोध का संबंध उतना ही अधिक जटिल होगा।

आर्यवेद ने अपने *चतु:शतक* में जो कहा है वह बहुत ही ठीक है। उनका कहना है कि जो सांसारिक दृष्टिकोण से सफल हैं वे मानसिक तथा भावनात्मक पीड़ा से ग्रस्त हैं तथा जो गरीब हैं वे शारीरिक दु:ख या पीड़ा से ग्रस्त हैं। इस कथन में बहुत सच्चाई है।

सत्वों के दु:ख से भरे जीवन को जीने के पीछे जो मुख्य कारण है वह यह कि आखिरकार वे सभी अज्ञान के जाल में फँसे हुए हैं। हमें इसकी ओर एक महत्त्वपूर्ण रवैया अपनाना चाहिए मानो कि वे एड्स के रोगी हों। यदि किसी को यह रोग हो जाए तो हमें उसकी ओर बहुत अधिक ध्यान देना चाहिए क्योंकि हम जानते हैं कि व्यक्ति के पास

ज़िंदगी के बहुत कम दिन बचे हुए हैं। इसी तरह व्यक्ति को यह सोचना चाहिए कि जब तक मैं अज्ञान तथा मिथ्या दृष्टि की शक्ति के प्रभाव में हूँ तब पहले या बाद में कुछ न कुछ अवश्य होगा। इसलिए मुझे अभी काम करना होगा। हमें इस प्रकार की लालसा उत्पन्न करना चाहिए।

जब तक व्यक्ति चित्त के तीन क्लेशों के प्रभाव तथा शक्ति के दबाव में रहता है तब तक वह सही मायनों में सुखी नहीं रह सकता। इसलिए एक तरह से हम सब चित्त के इन तीन विषों के गुलाम हैं। और जब हमारे पास इन बंधनों से मुक्ति का उपाय है तो इस प्रकार की स्वतंत्रता के लिए कोशिश न करना बदकिस्मती और मूर्खता की बात होगी।

इसलिए जब हम इस प्रकार का चिंतन करते हैं और यह कहते हैं 'संसार के अस्तित्व के तीन क्षेत्र' तब कहीं हृदय की गहराइयों से एक भावना उत्पन्न होती है, 'मुझे इससे बाहर निकलना होगा। मुझे इससे मुक्ति पानी होगी।' हम हृदय में जो उत्पन्न करते हैं वह चित्त के इन तीन विषों से मुक्ति पाने की इच्छा है।

जो भी हो उस प्रकार की मुक्ति को प्राप्त करने के लिए एक लंबे समय की साधना और अभ्यास की आवश्यकता है, कुछ स्थितियों में कई जीवनकाल लग जाते हैं। ऐसी स्थिति में आवश्यकता इस बात की है कि हम इस बात का निश्चय कर लें कि भविष्य में एक अच्छे सत्व का जीवन मिले जिससे हमें ऐसा अवसर मिले कि अपने उद्देश्य के मार्ग पर चलते रहें जहाँ से हमने छोड़ा था।

इसलिए यद्यपि हमारा अंतिम उद्देश्य मुक्ति है और हम उसी को अपने सामने रखते हैं, उस तक पहुँचने के लिए पहला कदम यह है कि हम इस बात का निश्चय कर लें कि हमें एक अच्छा पुनर्जन्म मिले। और ऐसा करने के लिए जिस बात की ज़रूरत है वह है नैतिक रूप से अनुशासित जीवन जीने की जिसमें व्यक्ति दस अकुशल कर्मों तथा दस दुर्गुणों से अपने आपको दूर रखता है। इन दस दुर्गुणों में शरीर संबंधी तीन कार्य (हत्या करना, चोरी और अनैतिक यौन आचरण); वाणी के चार (झूठ बोलना, लोगों में झगड़ा पैदा करना, कटु शब्दों का

उच्चारण करना और अर्थहीन गप्पेबाजी करना); चित्त के तीन (लोभ, बुरे उद्देश्य तथा विकृत विचार)। इन दस दुर्गुणों से बचकर नैतिक जीवन जीने के लिए एक सच्चे उत्साह के उत्पादन के लिए कर्म तथा कार्य कारण के सिद्धांत को समझने की आवश्यकता है।

अब जब कर्म धारणा के पीछे छिपे सिद्धांत और कार्य एवं उसके नतीजे का संबंध है और सूक्ष्म स्तर पर किस तरह एक का प्रभाव दूसरे पर पड़ता है, को समझने की बात आती है तो यह सब एक आम आदमी की समझ से परे है। शुरू में कर्म सिद्धांत का सबसे सूक्ष्म भाग हमारी समझ के परे हो जाता है। इसलिए कुछ हद तक विश्वास, कर्म सिद्धांत के बारे में बुद्ध के वचन आवश्यक हो जाते हैं। इस कारण कर्म सिद्धांत के नियमों का पालन के शरणगमन से गहरा संबंध है। वास्तव में कर्म के नियमों के अंतर्गत अनुशासन के जीवन जीने को शरणगमन के नियम के समान माना जाता है।

ऐसे अभ्यासों में लगे रहने के लिए जैसे शरणगमन, कर्म के सिद्धांत के अनुसार जीवन जीना, दस सद्गुणों के आधार पर नैतिक रूप से अनुशासित जीवन जीना इत्यादि के लिए हमें अत्यधिक आत्मविश्वास की आवश्यकता पड़ती है कि हम भी कर सकते हैं। इसे पैदा करने के लिए और एक उत्साह भावना उत्पन्न करने के लिए बौद्ध ग्रंथों में मनुष्य के शरीर और मनुष्य जीवन के महत्त्व पर चर्चा की गई है। ऐसे समय हम कभी शरीर और शरीर से जुड़ी गंदगी और उनके अधूरेपन की बात नहीं करते बल्कि हम हमेशा उसकी अच्छाई, उसके अर्थवान होने की, उसके उपयोग के बारे में चर्चा करते हैं कि हमारे शरीर के अंदर कितनी योग्यता है और उसे किस तरह अच्छे कामों के लिए काम में लाया जा सकता है, इत्यादि। ऐसा मन में आत्मविश्वास और हिम्मत बिठाने के लिए किया जाता है। इस कारण ऐसे समय हमें शरीर के नकारात्मक बातों की ओर ध्यान केंद्रित नहीं करना चाहिए, खासकर यदि व्यक्ति में आत्महीनता और आत्मघृणा की भावना हो। यदि ऐसे व्यक्ति से शरीर के अधूरेपन, अपवित्रता इत्यादि के संबंध में बात की जाए तो हो सकता है कि समस्या और अधिक हो जाए और परिस्थिति और बिगड़ जाए। उस समय हम विशेष रूप से मनुष्य रूप की विशेषता, उसके उपयोग

तथा उसके लाभ की बात करते हैं जिससे न केवल हमारे मनुष्य रूप के गुणों की सराहना की जा सके परंतु साथ ही साथ उसके उचित उपयोग के प्रति भी हमारे मन में निष्ठा की भावना उत्पन्न हो सके।

फिर अभ्यासी को मृत्यु तथा अनित्यता का स्मरण कराया जाता है। यहाँ जब हम अनित्यता की बात करते हैं तो इसका प्रयोग बहुत ही आमतौर पर कर रहे हैं : एक दिन हम यहाँ नहीं रहेंगे। अनित्यता के प्रति जागरूकता को बढ़ावा दिया जाता है, क्योंकि जब हम इसको मानव जीवन के अस्तित्व की अगाध क्षमता के साथ जोड़ते हैं तो उससे एक महत्त्व की भावना उत्पन्न होती है कि, ''मुझे अपने जीवन के प्रत्येक बहुमूल्य क्षण का उपयोग करना चाहिए।'' उस प्रकार के उत्साह, आतुरता और आत्मविश्वास की भावना का विकास करना चाहिए। इस स्तर तक पहुँचने के लिए सबसे प्रमुख शिक्षा की आवश्यकता है। परंतु जैसा द्रोमन्तुन्पा कहते हैं कि पढ़ते और सीखते समय वे चिंतन तथा साधना का अभ्यास नहीं भूलते। उसी तरह जब वे साधनारत होते हैं तो वे शिक्षा तथा साधना का महत्त्व नहीं भूलते। दूसरे शब्दों में वे हमेशा इन तीनों को मिलाते हैं। वही एक संयुक्त, समन्वित तथा सम्मिलित दृष्टिकोण है। यह बहुत आवश्यक है ताकि बौद्धिक शिक्षा और व्यावहारिक क्रियान्वयन में किसी प्रकार का असंतुलन न हो। अन्यथा अत्यधिक बौद्धिकता का खतरा है जो अभ्यास को समाप्त कर सकता है या फिर शिक्षा के बिना व्यावहारिक क्रियान्वयन पर अत्यधिक बल जिसके फलस्वरूप विवेकशक्ति नष्ट हो जाती है। अतः संतुलन का होना बहुत महत्त्वपूर्ण है।

मार्ग की प्रणाली जो विपरीत क्रम में प्रारंभ से लेकर अंत तक है का विहंगावलोकन जो मैंने दिया है, आर्यवेद के चतुःशतक में पाई जाती है जिसमें उन्होंने संपूर्ण बौद्ध मार्ग का सारांश दिया है। वे कहते हैं कि प्रारंभिक अवस्था में जो महत्त्वपूर्ण है वह व्यक्ति के शरीर, वाक् और चित्त के नकारात्मक तथा अकुशल कार्यों को उलटाना है। यही नैतिक रूप से अनुशासित जीवन जीने का महत्त्व है। दूसरे स्तर पर भ्रांतियों की अवस्था और उसमें निहित अज्ञान की भावना जिसके कारण ऐसा प्रतीत होता है कि वस्तुएँ स्वभावसिद्ध हैं और उनका अपना स्वतंत्र अस्तित्व

है। फिर तीसरी अवस्था में भ्रांतिवश चित्त में उत्पन्न हुए सभी चिह्न, आदतें तथा वृत्तियों को दूर करने की आवश्यकता है। इस तरह व्यक्ति की पूर्ण प्रबुद्धता के विकास के मार्ग में तीन सुस्पष्ट चरण हैं।

साधना

अब हम एक क्षण मौन साधना के लिए रुकें। पिछले सत्रों में हमारी चर्चाओं के दौरान आपको कुछ सुख या प्रसन्नता का अनुभव हुआ होगा, कुछ सुख की अनुभूति हुई होगी। आपमें से कुछ शिथिलता या थकावट का अनुभव कर रहे होंगे। इसलिए चलिए हम उस *'मैं'* या *'आत्म'* पर ध्यान केंद्रित कर, उसका परीक्षण करें जिसने इस प्रसन्नता का अनुभव किया है। चलिए हम इस पर अपना ध्यान केंद्रित कर और उसकी खोज करें।

जो बात निश्चित है वह यह कि यह शरीर तथा चित्त से स्वतंत्र अस्तित्व रखता है और इन दोनों शरीर तथा चित्त में यह स्पष्ट है कि शरीर को हम इस आत्म के रूप में नहीं देख सकते। अनुभूति भी आत्मा नहीं है क्योंकि हमारी साधारण समझ के अनुसार हम यह कहते हैं कि, ''यह मेरा अनुभव है, मानो कोई कर्ता है, मानो कोई अनुभवकर्ता है और कोई भावना है। इसलिए भावनाएँ व्यक्ति नहीं होतीं और न ही भावनाओं को आत्म माना जा सकता है क्योंकि हम यह कहते हैं कि 'मैं अनुभव करता हूँ' और ऐसा प्रतीत होता है कि अनुभूति एक कार्य है और कोई है जो अनुभव करता है। इसलिए अनुभूति को आत्मा या व्यक्ति के रूप में समझा नहीं जा सकता।

अब यदि तुम्हें यह विकल्प दे दिया जाए कि तुम अपने चित्त की बदली किसी अन्य चित्त के साथ कर लो जो अधिक श्रेष्ठ, स्पष्ट तथा अधिक जागरूक हो तो हममें से अधिक इस बात के लिए तैयार होंगे। ठीक इसी तरह हम अपने शरीर के विषय में भी सोचते हैं : अगर और

वांछनीय तथा आकर्षक शरीर के बदले की संभावना होती.....और तो और चूँकि चिकित्सा क्षेत्र ने दिमाग को बदलने की अनुमति नहीं दी है परंतु यदि ऐसा संभव हो पाता तो हम अवश्य बदल लेते।

इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि जिस स्वाभाविक ढंग से हम अपने आप का अनुभव करते हैं, जिस तरह से *आत्म* की भावना हमारे अंदर जागती है वह इस प्रकार की है कि मानो कोई कर्ता या वस्तु है जो अनुभव या महसूस करती है। फिर स्कंध ऐसे हैं जो एक अर्थ में आत्म के अपने हैं या *आत्म* के एक अंग हैं। ठीक इसी तरह जब हमारे अंदर अत्यधिक क्रोध या घृणा की भावना की अनुभूति होती है तब आत्म की एक प्रबल भावना जाग्रत होती है : 'मैं क्रोधित हूँ'। फिर जब तुम्हारी घृणा और क्रोध की भावना मान लो कि तुम्हारे शत्रु के प्रति केंद्रित होती है तब वह तुम्हारे लिए वह एक वस्तुनिष्ठ वस्तु बन जाता है जो तुम्हारी भावना के आधार पर या तो शत प्रतिशत नकारात्मक होता है अथवा शत प्रतिशत सकारात्मक। इसलिए यदि वह व्यक्ति जो हमारी घृणा और क्रोध का केंद्र है हमारी अनुभूति के अनुसार है तो हम जो भी गुण उस व्यक्ति के साथ जोड़ते हैं वह उस यथार्थ का एक अंग होता है। इसका अर्थ यह है कि हमारे क्रोध तथा घृणा का पात्र शत प्रतिशत नकारात्मक होगा और इसमें परिवर्तन की कोई संभावना नहीं है। परंतु स्थिति ऐसी नहीं है।

इस तरह हमारे सहज, स्वाभाविक चित्त में सभी कुछ ऐसा प्रतीत होता है मानो उसका अपना स्वतंत्र, ठोस और वस्तुनिष्ठ अस्तित्व हो, एक वस्तुनिष्ठ स्तर मानो वह अपने आप में, वस्तुनिष्ठ रूप में और स्वतंत्र सत्ता लिए हो। परंतु यदि वस्तुएँ तथा घटनाएँ हमारी अनुभूति के अनुसार अस्तित्व रखतीं तो जितना अधिक हम उन्हें खोजते वे उतने ही अधिक स्पष्ट हो जाते। जो बात स्पष्ट है वह यह कि जब हम तलाश करने लगते हैं तो वे तितर-बितर होकर अदृश्य हो जाते हैं और उन्हें खोजना असंभव हो जाता है।

आधुनिक वैज्ञानिक संबंध में भी भौतिक शास्त्री भौतिक यथार्थ को समझने की खोज में ऐसे मोड़ पर पहुँचे हैं जहाँ वे ठोस वस्तु की धारणा को खो चुके हैं, वे वस्तु के वास्तविक अस्तित्व को समझा नहीं पाए

हैं। इस कारण उनका दृष्टिकोण मात्र विवेकशील, स्वतंत्र वस्तुनिष्ठ वस्तु के बजाय पूर्णता के भाव लिए, अंतर्संबंधों को लिए हुए है।

यदि वस्तुएँ तथा घटनाएँ हमारी अनुभूति के अनुसार वस्तुनिष्ठ अस्तित्व रखतीं जिनका अपना स्वतंत्र विवेकपूर्ण साकार अस्तित्व हो तो जब हम उनकी खोज करते हैं और उन नामों में निहित सही संदर्भों तो वे और अधिक स्पष्ट होती जानी चाहिए। पर ऐसा होता दिखाई नहीं देता। जैसे ही हम उन्हें देखना प्रारंभ करते हैं वैसे ही धारणा विघटित होकर गायब हो जाती है। इससे यह संकेत नहीं मिलता कि वस्तुओं का और घटनाओं का अस्तित्व नहीं होता। क्योंकि यह तथ्य कि वस्तुओं का अस्तित्व है यह एक वास्तविकता है, हमारा अनुभव बताता है कि घटनाएँ प्रभावित करती हैं, विभिन्न घटनाओं के कारण हम या तो दुःख झेलते हैं या सुख तथा प्रसन्नता का अनुभव करते हैं। घटनाओं का सत्य इस प्रकार का है कि हमारे अनुभव उनके यथार्थ का समर्थन करते हैं। इससे हम यह निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि हम जिस रूप में वस्तुओं का अनुभव करते हैं और जिस रूप में वस्तुओं का अस्तित्व है उन दोनों में असंगति है। हमारी अनुभूति तथा वास्तविकता में असंगति है, दूसरे शब्दों में प्रकटित रूप तथा यथार्थ में। इस तरह एक बार हमने इस असंगति के समझ की एक झलक पा ली तब उसे ध्यान में रखते हुए हमें केवल इस बात का निर्णय लेना चाहिए कि हम किस तरह संसार के साथ तथा अन्य लोगों के साथ संबंध जोड़ सकते हैं, किस तरह हम लोगों को, हमारे पर्यावरण और अपने आप को समझ सकते हैं। इस विश्लेषण में हम देखते हैं कि हम संसार से अपने आप से और दूसरों से संबंध जोड़ने का इस तरह प्रयास करते हैं जो इस विश्वास का संकेत देता है कि कुछ वस्तुएँ स्वतंत्र तथा वस्तुनिष्ठ होती हैं। फिर हम यह अनुभव करते हैं कि वस्तुओं का अस्तित्व इस प्रकार का नहीं होता। जिस रूप में वस्तुएँ दिखाई देती हैं उनका अस्तित्व उस रूप में नहीं होता।

चूँकि उनका अस्तित्व है फिर प्रश्न यह उठता है कि वे किस रूप में अस्तित्व रखते हैं? उनके अस्तित्व की स्थिति कैसी है? हम यह निष्कर्ष निकालने पर बाध्य हो जाते हैं कि हम केवल पारस्परिक संबंधों

के आधार पर ही उनके अस्तित्व और पहचान को समझ सकते हैं। हम दूसरों के साथ व्यवहार और यथार्थ पर जो नाम या पहचान थोपते हैं। इसके बाद अपने चित्त को इस नतीजे पर बनाए रखो कि वस्तुएँ स्वतंत्र अस्तित्व नहीं रखतीं और उनमें स्वभावसिद्धता का गुण नहीं होता। शून्यता पर साधना करने का यही अर्थ है।

इसलिए जब हम शून्यता पर साधना करते हैं तो हम यह नहीं सोच रहे होते कि, ''हाँ, वस्तुओं का अस्तित्व इस प्रकार का नहीं होता वे किसी दूसरे रूप में अस्तित्व रख सकती हैं।'' किसी भी वस्तु की पुष्टि करने की कोई कोशिश नहीं होनी चाहिए। केवल चित्त को इस नतीजे पर कायम रखा जाना चाहिए कि वस्तुओं और घटनाओं का अपना स्वतंत्र अस्तित्व नहीं होता। यह चित्त को खालीपन या वस्तुओं के अभाव पर लगाए रखने से अलग है। बल्कि व्यक्ति चित्त को स्वतंत्र अस्तित्व के अथवा स्वभावसिद्धता के अभाव पर लगाता है।

शब्दावली

अभिधर्म त्रिपिक के तीन अंगों में से एक अंग।

स्कंध नाम और रूप के भेद से स्कंध दो प्रकार के हैं। ये क्रमशः मानसिक और भौतिक अवस्थाओं के सूचक हैं। रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार एवं विज्ञान ये पाँच स्कंध हैं।

अर्हत ऐसा सत्व जिसने अपनी कार्मिक प्रवृत्तियों और क्लेशों, जिसके कारण वह जन्म, मृत्यु और पुनर्जन्म के चक्र में बँध जाता है, से मुक्ति प्राप्त कर ली हो।

बिंदु बौद्ध चिकित्सा शास्त्र के अनुसार मानवीय शरीर की नाड़ियों और वाहिकाओं में प्रवाहित नर और मादा शुक्राणु जो कि शरीर का एक प्रमुख अंग है।

बोधिचित्त करुणा तथा मैत्री की नींव पर आधारित पर कल्याण के लिए जो चित्त होता है वही बोधिचित्त कहलाता है।

बोधिसत्व वह जिसका सार पूर्ण ज्ञान है, वह बौद्ध संत जिसे निर्वाण के लिए मात्र एक जन्म लेना शेष है।

निरोध *तृष्णा* का पूर्णतः नाश और निर्वाण की प्राप्ति का उल्लेख।

चक्र तंत्र के संदर्भ में इसका अर्थ शरीर के अंदर की शक्ति

केंद्र से है। मुख्य चक्र शरीर के शीर्षभाग, गले, हृदय, नाभि तथा जनेंद्रियों पर स्थित है।

चंद्रकीर्ति धर्मपाल के शिष्य थे तथा भव्य और कमलसिद्धि के सान्निध्य में उन्होंने नागार्जुन का अध्ययन किया था।

चित्तमात्र प्राचीन भारत में प्रचलित चार प्रसिद्ध बौद्ध दर्शनों के अंग में से एक। चौथी शताब्दी के संत असंग द्वारा प्रतिस्थापित इसका मुख्य सिद्धांत है कि संसार की सभी वस्तुएँ या तो वास्तविक घटनाएँ हैं अथवा चित्त का विस्तार हैं।

क्लेश क्लेश चैतसिक है, चित्त नहीं। फिर भी जब क्लेश चैतसिक उद्‌भूत होते हैं तो उनके आधारभूत प्रधान चित्त भी पराधीन होकर उनका अनुवर्तन करने लगते हैं। क्लेश अनेक प्रकार के हैं, यथा राग, द्वेष, मोह, अभिमान और मिथ्यादृष्टि आदि। राग, द्वेष और अभिमान के कारण वस्तु का यथार्थ ज्ञान नहीं हो पाता।

धर्म धर्म का अर्थ है धारण करना। इसके दो रूप हैं। एक तो अपने लक्षण को धारण करना और दूसरा भय से रक्षा करना।

धर्मकाय धर्मकाय मूलत: बुद्ध के उपदेश से संबद्ध है। महापरिनिव्वानसुत्त में कहा गया है कि भगवान बुद्ध अपने परिनिव्वान के समय आनंद को कहा कि आनंद मेरे द्वारा उपदिष्ट धर्म ही मेरे बाद तुम्हारा रास्ता होगा।

जोंगचेन इसका शाब्दिक अर्थ है 'पूर्ण प्रबुद्धता'। तिब्बती बौद्ध धर्म के निंगमा परंपरा के अंतर्गत आने वाला सबसे उच्च अभ्यास।

शून्यता संपूर्ण धर्मों की वास्तविक स्थिति को 'शून्यता' कहते हैं। स्वभावसत्ता का निषेधमात्र शून्यता है।

पितृतंत्र अनुत्तरयोग तंत्र का एक अंग जिनमें उन तंत्रों का समावेश है जो निपुणता से मायाकाय को प्राप्त करने के उपायों पर बल देते हैं।

चार आर्यसत्य बौद्ध दर्शन का मूल है चार आर्य सत्यों का सिद्धांत। भगवान ने कहा है कि ''1 इदं दु:खार्थसत्यम्, यह दु:ख सत्य है, इदं समुदार्यसत्यम्; यह कारण सत्य है, इदं निरोधार्यसत्यम्; यह निरोध सत्य है, इदं मार्गार्यसत्यम्; यह मार्ग सत्य है।''

अनुत्तर योगतंत्र तंत्रपिटक के चार वर्गों का श्रेष्ठतम रूप।

हीनयान हीनयान का उपदेश प्रथमत: पंचवर्गीय भिक्षुओं के सम्मुख दिया गया था। यद्यपि श्रावक और प्रत्येक बुद्ध में परस्पर ऊँच-नीच भाव है तथापि मूल संकल्प एक ही है। वह है केवल स्वयं का संसार से मुक्तिमात्रा प्राप्त करना। इसे ही हम 'हीनयान धर्म' कहते हैं।

जातक कथाएँ बुद्ध के पूर्व जन्म की कथाएँ। यह कथाएँ यह स्पष्ट करती हैं कि अपने पूर्वजन्मों में किस तरह बुद्ध ने स्वयं को बोधिसत्वाचरण के प्रति समर्पित किया था।

कादंपा सन् 1039 ई. में विक्रमशिला विद्यापीठ के आचार्य महापंडित दीपंकर श्रीज्ञान तिब्बत पधारे। इन्होंने तिब्बत जाकर गंभीर और उदार सौत्रा, सूत्रानुसारीद्ध धर्म और तांत्रिक धर्म का प्रचार किया। इनके द्वारा प्रवर्तित तथा खु, डोंक, डोम आदि महापुरुषों द्वारा संवर्धित परंपरा कदंपा सिद्धांत कहलाती है।

कर्म कर्म का अर्थ है कर्तृत्व। जिस द्वारा से कर्म किए जाते हैं, उसके अनुसार वे शारीरिक, वाचित तथा मानकिस कर्म कहलाते हैं।

माध्यमिक शब्दिक अर्थ है 'मध्यम मार्ग'। प्रासंगिक माध्यमिक इस

परंपरा का एक प्रमुख अंग है।

महामुद्रा शाब्दिक अर्थ है 'महान मुद्रा'। सूत्र और तंत्र में इसे अलग- अलग रूप से परिभाषित किया गया है।

एक साधना के रूप में इसका संबंध शमथ तथा विपश्यना दोनों से है। तिब्बती बौद्ध धर्म के काग्यु और गेलुग दोनों ही परंपराओं में यह देखने में आता है।

महायान भगवान बुद्ध उपाय कौशल के माध्यम से उपदेश दिया करते थे। हीन सत्वों को दिया गया उपदेश हीनयान और महासत्वों को दिया गया उपदेश महायान कहलाया। इसे महायान इसलिए कहते हैं क्योंकि इसका उद्देश्य केंवल एक व्यक्ति का उद्धार मात्र नहीं है अपितु महायान के साधक का उद्देश्य समस्त प्राणिमात्र का उद्धार है।

मैत्रेय विज्ञानवाद के प्रस्थापक के रूप में मैत्रेय नाम का स्मरण किया जाता है।

मातृतंत्र अनुत्तरयोग तंत्र का एक अंग जिनमें उन तंत्रों का समावेश है जो चित्त की प्रभास्वरता की प्राप्ति पर अधिक बल देते हैं।

नागार्जुन नागार्जुन दूसरी शताब्दी के शून्यवाद माध्यमिक संप्रदाय के प्रस्थापक और व्यवस्थापक आचार्य थे।

निर्वाण निर्वाण आध्यात्मिक साधना की वह चरम सीमा है जहाँ समस्त कर्मस्त्रावों का क्षय हो जाता है। वह स्थिति अतींद्रिय परम सुखकारी है।

निंगमा तिब्बती बौद्ध धर्म का प्राचीनतम रूप जो कि उन परंपराओं और ग्रंथों पर आधारित है जो कि आठवीं और नौवीं शताब्दी में तिब्बत में लाया गया था।

प्रासंगिक माध्यमिक प्रासंगिक मत के अनुसार सभी पदार्थ स्वभावतः शून्य हैं।

प्रत्येक बुद्ध *प्रत्येकबुद्ध* मार्ग भी हीनयान के अंतर्गत आने वाला एक मार्ग है। इसका स्वरूप भी प्रायः श्रावकमार्ग की भाँति ही है, किंतु इन दोनों के उद्देश्य अर्थात बोधि में अंतर है। श्रावक की अपेक्षा प्रत्येक बुद्ध अधिक कल्पों तक पुण्यसंचय करता है।

रेन-दावा तिब्बती बौद्ध धर्म के शाक्य परंपरा के पंद्रहवीं शताब्दी के गुरु।

रूपकाय रूपकाय बुद्ध का भौतिक शरीर था। उसमें बुद्ध का अवतारमात्र उपाय कौशल प्रदर्शन के निमित्त था। वैतुल्यकों की मान्यता थी कि बुद्ध संसार में जन्म ग्रहण नहीं करते। वे तुषित लोक में विचरण करते हैं और जनहित के लिए संसार में आते हैं।

शाक्य पंडित ग्यालसेन तिब्बती बौद्ध धर्म के शाक्य परंपरा के पाँच महान प्रस्थापकों में से एक।

संसार जो कर्म और क्लेश के पराधीन होकर उनका अनुसरण करते हैं, स्वभावतः दुःखात्मक होते हैं, दुःख का आश्रय होते हैं तथा बाद में भी दुःख को आकृष्ट करते हैं, वे ही संसार कहलाते हैं।

संघ आर्य मार्ग को प्राप्त पुद्गल, चाहे वह प्रव्रजित हो, चाहे गृहस्थ 'संघरत्न' है। वह शरण प्राप्ति में सहायक है।

शमथ समाधि के अनेक प्रकार हैं। किसी भी आलंबन में अविक्षिप्तभाव से एकाग्र रहते हुए चित्त का कार्यप्रश्रब्धि और चित्त प्रश्रब्धि से संयुक्त रहना शमथ का स्वरूप है।

श्रावक हीनयानिक दो प्रकार के होते हैं, श्रावक और प्रत्येकबुद्ध। यद्यपि श्रावक और प्रत्येकबुद्ध में परस्पर

ऊँच-नीच भाव है तथापि मूल संकल्प एक ही है। वह है केवल स्वयं का संसार से मुक्तिमात्र प्राप्त करना।

शून्यता नागार्जुन ने शून्यता को प्रत्ययजन्य मानने के कारण भावात्मक माना है, अभावात्मक नहीं।

छह पारमिताएँ स्थविरवाद में 'पारमिता' को पारामि कहा गया है। बोधिसत्व पूर्णत्व की प्राप्ति के लिए उनकी साधना करता है। यह हैं—दान, शील, शांति, वीर्य, ध्यान और प्रजा।

सूत्र शाक्यमुनि बुद्ध द्वारा दिया गया सार्वजनिक उपदेश।

सूत्रयान महायान बौद्ध धर्म में प्रबुद्धता के संपूर्ण मार्ग को दो प्रमुख यानों के अंतर्गत रखा गया है जो सूत्रयान और तंत्रयान हैं। सूत्रयान में वे प्रणालियाँ और अभ्यास शामिल हैं जो कि सूत्र पर आधारित हैं।

तंत्र तंत्र की दो विशेषताएँ हैं—उत्पादक्रम और संपन्नक्रम। इन दो विशेषताओं के कारण ही बौद्धतंत्र अन्य तंत्रों से भिन्न होता है।

तंत्रयान तांत्रिक ग्रंथों पर आधारित महायान बौद्ध धर्म का एक अंग जो वज्रयान और मंत्रयान नाम से भी जाना जाता है।

तथागत बुद्ध का पर्याय जो कि अकसर सूत्रों में प्रयुक्त होता है। महायान के विभिन्न अंगों के सूत्रों और तंत्रों के संदर्भ के अनुसार इस शब्द की व्याख्या होती है।

थेरवाद प्राचीन भारत के हीनयान परंपरा का जीवित रूप जिसका अभ्यास मूल रूप से थाइलैंड, बर्मा, कंबोडिया और श्रीलंका में हो रहा है।

त्रिरत्न शरणगमन के लिए पहले त्रिरत्न से परिचित होना आवश्यक है। बौद्ध धर्म के त्रिरण में बुद्ध-शरण निर्देशक

है, संघ शरण प्राप्ति का सहायक है और धर्म वास्तविक शरण है क्योंकि धर्म के अभ्यास से ही ज्ञान तथा बुद्धत्व की प्राप्ति संभव है।

त्रिकाय त्रिकायवाद बौद्ध दर्शन का एक महत्त्वपूर्ण सिद्धांत है। स्थविरवादी विचारधारा के अनुसार भगवान बुद्ध पूर्णतः मानव थे। उनमें मानवीय हीनताएँ थीं। शनैः शनैः उनके व्यक्तित्व और कृतित्व को मानवोत्तरीय बनाया गया। त्रिकायवाद इसी का दिक्दर्शक है।

त्रिविध भ्रांतियाँ।

सत्यद्वय ज्ञान के विषयों का दो विभाग होता है, यथा संवृति सत्य एवं परमार्थ सत्य। जैसा कि आचार्य नागार्जुन ने कहा है :

द्वे सत्ये समुपाश्रित्य बुद्धानां धर्मदेशना।
लोकसंवृतिसत्यं च सत्यं च परमार्थतः॥

इन दो सत्यों की स्थापना में भेद होने से बौद्धों के विभिन्न सिद्धांतों का जन्म हुआ।

वैभाषिक प्राचीन भारत के चार प्रमुख बौद्ध दर्शनों में से एक।

विनय भिक्षुओं के लिए अनुशासन के नियम।

विपश्यना स्थिर, अचंचल। ध्यान को दो प्रकार से विभक्त किया जा सकता है—प्रविचयात्मक तथा एकाग्रतायुक्त। 'शमथ' ही एकाग्रता ध्यान होता है तथा 'विपश्यना' प्रविचयात्मक ध्यान। शमथ ध्यान और विपश्यना ध्यान दोनों ही शून्यता को देखते हैं।

योगाचार योग और आचार शब्द का मिश्रित रूप है। शमथ और विपश्यना को प्राप्त कराने वाले मार्ग कहते हैं और उस योग के मार्ग का आचरण 'योगाचार' है। इस संदर्भ में यह चित्तमात्रा का पर्याय है।

उल्लिखित ग्रंथ

सूत्र	प्रतिमोक्ष सूत्र
	शालिस्तंभसूत्र

भारतीय भाष्यकारों के ग्रंथ

आर्यवेद	*चतुशतकः*
असंग	*अभिधर्मसमुच्चय*
चंद्रकीर्ति	*मध्यमकवतार*
धर्मकीर्ति	*प्रमाणवर्तिका*
गुणप्रभा	*विनयसूत्र*
मैत्रैय	*अभिसमयालंकार*
	महायानसूत्रालंकार
	उत्तरतंत्र
शांतिदेव	*बोधिसत्वचर्यावतार*
	शिक्षासमुच्चय

❑❑❑

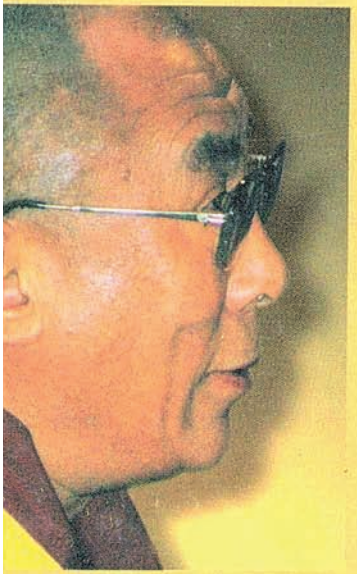

क्रोधोपचार

बौद्ध धर्म के परिप्रेक्ष्य में क्षांति का बल विश्व के सभी प्रमुख धर्म प्रेम, करुणा तथा सहिष्णुता के महत्त्व पर बल देते हैं। बौद्ध धर्म की परम्पराओं में इनका अपना एक विशिष्ट स्थान है जो इस बात पर एक मत हैं कि करुणा तथा प्रेम सभी प्रकार के अभ्यासों के मार्गों की आधारशिला है। अपने अन्दर निहित करुणा तथा प्रेम की भावना के परिष्कार के लिए क्रोध और घृणा जैसी उनकी विरोधी शक्तियों का प्रतिकार अत्यंत महत्त्वपूर्ण है।

इस पुस्तक में परम पावन दलाई लामा यह बता रहे हैं कि हम किस तरह क्षांति और सहिष्णुता के अभ्यास द्वारा क्रोध और घृणा जैसी बाधाओं पर विजय प्राप्त कर सकते हैं। उनकी यह विवेचना शास्त्रीय ग्रंथ बोधिचर्यावतार पर आधारित है जिसमें अन्य सत्वों की भलाई हेतु पूर्ण प्रबुद्धता की कामना करने वाले बोधिसत्व के कार्यों का विवरण है।

इसमें प्रस्तुत प्रणाली और उपाय न केवल बौद्धाभ्यासियों के लिए प्रासंगिक हैं अपितु उनके लिए भी जो स्वयं भी इनसे लाभान्वित होना चाहते हैं। इन उपदेशों और अपने स्वयं के उदाहरण द्वारा परम पावन दलाई लामा दर्शा रहे हैं कि किस तरह क्षांति और सहिष्णुता की शक्ति से क्रोध का शमन कर विश्व में शांति उत्पन्न की जा सकती है।

FULL CIRCLE

फाउंडेशन फॉर यूनिवर्सल रेस्पॉन्सेबिलिटी

Rs 95
ISBN 81-7621-072-2